चिन्तन-सृजन

त्रैमासिक

वर्ष 17 अंक 2 **अक्टूबर-दिसम्बर 2019**

सम्पादक
बी. बी. कुमार
संयुक्त सम्पादक
शिवनारायण

आस्था भारती
दिल्ली

वार्षिक मूल्य :

व्यक्तियों के लिए	60.00 रूपए
संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए	150.00 रूपए
विदेशों में	$ 15

एक प्रति का मूल्य

व्यक्तियों के लिए	20. 00 रूपए
संस्थाओं के लिए	40.00 रूपए
विदेशों में	$ 4

विज्ञापन दरें :

बाहरी कवर	20,000.00 रूपए
अन्दर कवर	15,000.00 रूपए
अन्दर पूरा पृष्ठ	10,000.00 रूपए
अन्दर का आधा पृष्ठ	7,000.00 रुपए

प्रकाशन के लिए केन्द्रयी हिन्दी संस्थान, आगरा द्वारा आंशिक आर्थिक सहायता प्राप्त

आस्था भारती
रजिस्टर्ड कार्यालय :
27/201 ईस्ट एंड अपार्टमेण्ट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096

कार्य-संचालन कार्यालय :
19/804 ईस्ट एंड अपार्टमेण्ट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096
से आस्था भारती के लिए डॉ. लता सिंह, आई.ए.एस. (सेवा-निवृत्त), सचिव द्वारा प्रकाशित तथा विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिण्टर्स, 1/10753, सुभाष पार्क, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32 द्वारा मुद्रित। फोन : 011-22712454

ई.मेल : asthabharati1@gmail.com
वेब साइट : asthabharati.org

चिन्तन-सृजन में प्रकाशित सामग्री में दृष्टि, विचार और अभिमत लेखकों के हैं। सम्पादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।

विषय-क्रम

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य 5

1. प्रेमचन्द साहित्य में किसान चेतना 7
डॉ. राम भरोसे

2. भ्रमरगीत सार का भाषाई सौन्दर्य 21
उमेश कुमार

3. राष्ट्रवाद का उदय एवं समकालीन विमर्श 26
डॉ. किरन बाला, डॉ. राजेश पालीवाल

4. स्त्री भाषा और कृष्णा सोबती का कथा-साहित्य 32
रजनी कुमारी पांडेय

5. मुगल साम्राज्यवाद को चुनौती देने वाला उत्तर-पूर्व का वीरयोद्धा : लाचित बरफूकन 44
डॉ. रसाल सिंह

6. 'कथा सतीसर' में स्त्री की सामाजिक स्थिति 49
डॉ. बजरंग चौहान

7. स्वामी विवेकानन्द का शिक्षा-चिन्तन 56
सुरेन्द्र माहेश्वरी

8. हिन्दी पत्रकारिता में 'हंस' और 'जागरण' का योगदान : एक परिचय 60
कृष्ण वीर सिंह सिकरवार

9. सूरजपाल सिंह की कहानियों में वर्णवाद 81
डॉ. सोनिया माला

10. सामाजिक विकास में नारी का योगदान 88
डॉ. कृष्ण कुमार तिवारी

11. वैश्वीकरण और उदारीकरण के दौर में रोजगार सृजन की सम्भावनाएँ 96
राम प्रवेश

12. इक्कीसवीं सदी की मुस्लिम हिन्दी कहानियाँ : सांस्कृतिक सन्दर्भ 104
डॉ. पठान रहीम खान

13. पुराकालीन पश्चिमी एशिया क्षेत्र के भारतीय वैदिक नृप एवं
इसी क्षेत्र में श्री राम को देवत्व-प्राप्ति 112
राजीव रंजन उपाध्याय

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य

भारतीय लोकतंत्र

भारत विश्व के सबसे बड़े लोकतंत्र को जीने वाला राष्ट्र है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता विविधता है। धर्म, संस्कृति, भाषा, भूगोल जिस किसी भी दृष्टि से देखें, उसमें व्यापक विविधता देखने को मिलेगी। उन तमाम विविधताओं में भी एकता के सूत्र को पकड़ कर विकास के मार्ग पर चलना भारत का मूल जीवन मंत्र है। विश्व में भारत के सतत विकास का यह जीवन-मंत्र अनोखा है, जिसके बल पर ही कहा गया—'सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्तां हमारा।' हम अनेक, फिर भी एक हैं। रंग अनेक, मिलकर हैं एक - 'श्वेत'। आजादी के 73 वर्ष हो गए। इन वर्षों में नाना प्रकार की प्रतिकूलताओं के बावजूद भारतीय लोकतंत्र मजबूत ही हुआ। विविधता ने भारतीय लोकतंत्र को मजबूती दी। प्रतिकूल परिस्थितियों में देश के उत्तर भाग ने दक्षिण को संभाला, तो दक्षिण ने पश्चिम और पश्चिम ने पूरब को! सबने अपने अपने अनुभवों से एक-दूसरे को समृद्ध किया। स्वयं टूटकर भी दूसरे को सहारा और दिशा देना भारतीय विविधता की विशेषता रही है।

राजनीति की दृष्टि से देखें तो भारतीय लोकतंत्र लगातार मजबूत हो रहा है। 1947 से 2020 तक की विकास-यात्रा में भारत तमाम खामियों के बावजूद लगातार मजबूत ही होता गया है। दुनिया में भारत एक मजबूत राष्ट्र के रूप में अपनी पहचान बनाने में कामयाब रहा है। सकारात्मक दृष्टि से देखें तो इन वर्षों में बहुत कुछ हुआ, लेकिन सकारात्मक दृष्टि से देखने के बावजूद नाना प्रकार की खामियाँ सामने पड़ी मिलेंगी। लोकतंत्र के चार स्तंभ हैं—विधायिका, कार्यपालिका, न्यायपालिका और प्रेस अर्थात मीडिया। कहने वाले कह सकते हैं कि विधायिका पूंजीतंत्र के हाथों रेहन पड़ी हैं, तो कार्यपालिका में भ्रष्टाचार शिखर पर है। न्यायपालिका लगातार अपनी विश्वसनीयता खोती चली जा रही, तो मीड़िया पूंजीतंत्र का औजार बन उसी के हित साधने में इस्तेमाल हो रही। आवारा पूंजी और बाजार ने लोकतंत्र के सभी स्तंभों को लूंजपूंज कर दिया है। लोक पर तंत्र हावी होता चला गया और तंत्र पूरी तरह से पूंजीखोरों के हाथों दबा पड़ा है। पूंजीबाजार ने पूरी तरह से लोकतंत्र को 'छलावा' बना कर रख दिया है। जिन्हें विकास की नीतियाँ बनानी है और जिन्हें उन नीतियों को अमलीजामा

पहनाना है, वे सब के सब पूंजी बाजार के भारी दबाब में हैं। भ्रष्टाचार हर कहीं नंगा नृत्य कर रहा है।

अनेक भारतीय बुद्धिजीवियों का मानना है कि पूंजी बाजार ने देश को दो हिस्सों में बाँट दिया हैं—भारत और इंडिया। इंडिया खाये-पिये, अघाये अमीरों की ऐशशाह है; तो भारत आदर्श और नैतिकता में जी रहे दीन-दुखियों का स्वप्न-देश, जिसे वे अपनी लहू से सींच रहे हैं। पूंजी बाजार 'इंडिया' के वास्ते 'भारत' का रक्तपान कर रहा है। उन्हें पुलिस, न्यायालय आदि के द्वारा अनुशासन का पाठ पढ़ा रहा है और अमीरों को खुला छोड़ रखा है।

ये तमाम खामियाँ अपनी जगह सही हो सकती हैं और कहने को तो ये भी कहा जा सकता है कि आवारा पूंजीतंत्र की यह दीमक भारत ही क्यों, विश्व के लगभग सभी विकासशील देशों के लोकतंत्र को चाटकर उसे खोखला बनाने में लगी है। परंतु सकारात्मक दृष्टि सम्पन्न लोगों को इन प्रतिकूल परिस्थितियों में भी भारतीय लोकतंत्र मजबूत होता दिखाई पड़ता है, जिसके आलोक में वे अपने राष्ट्रवाद की हिफाजत हर हाल में, हर कीमत पर करना चाहते हैं। सबके अपने अपने राष्ट्रवाद हैं, जिसकी चौहद्दी में रह कर वे अपने लोकतंत्र का झंडा बुलंद करना चाहते हैं। संघर्ष कहाँ नहीं है! विश्व के लगभग सभी लोकतंत्र में अपने अपने रंग के संघर्ष हैं। उन संघर्षों में जीते-मरते हुए भी हम लोकतंत्र के डडे को थामें रहते हैं। यह यथास्थितिवाद नहीं, बल्कि संघर्ष का विकास है, जहां से परिवर्तन के नए-नए रास्ते निकलते हैं। लोकतंत्र से हमें परिवर्तन के नित्य नए रास्तों का ज्ञान मिलता रहता है! भारत इसी विकसित हो रहे लोकतंत्र का गुरु है।

—शिवनारायण

प्रेमचन्द साहित्य में किसान चेतना

डॉ. राम भरोसे

भारत एक कृषि प्रधान देश है। यह बात हमारे बचपन से ही विद्यालयों में पढ़ाई जाती रहती है। इसे दुर्भाग्य कहिए या विडम्बना कि आजादी के 70 साल बसाल भी हमारा किसान उसी दुर्दिन में अपने दिन काट रहा है, जिसमें वह आजादी से पहले था। एक अनुमान के मुताबिक हमारे देश में आत्महत्या करने वालों में सबसे ज्यादा संख्या 'किसानों' की ही होती है। ऐसा क्यों? क्या हमारी राष्ट्रीय नीतिकारों को नीतियाँ बनाते वक्त 'किसान' उनके जहन से बाहर होता है? यह एक बहुत बड़ा प्रश्न है। किसानों के साथ यह एक बहुत बड़ा मजाक ही कहा जाएगा कि खेती या किसानों से जुड़ी समस्याओं या योजनाओं का निर्माण एक बन्द एसी कमरो में बैठकर राजनेताओं और अधिकारियों द्वारा किया जाता है। कर्ज माफी की बात हो या जमीन की पट्टेदारी की बात हो अनेक प्रकार की समस्याओं से हमारा किसान सालों से जूझ रहा है। सबसे बड़ी समस्या तो यह है कि सरकार द्वारा चलाई जा रही किसान हित योजनाएँ धरातल पर उन तक पहुँच ही नहीं पाती हैं। कारण कुछ भी हो। आखिर में जिस सच से हमारा सामना होता है वह है 'किसानों की आत्महत्या'।

किसानों की हालात में सुधार हो, उसके लिए राष्ट्रीय व क्षेत्रीय स्तर पर कई आन्दोलन चलाए गए और अभी भी चलाए जाते हैं। परिणामस्वरूप देखें तो आन्दोलन का हासिल न के बराबर ही रहता है। यह बात स्वीकार्य है किसान आन्दोलकारियों को योगदान स्वतन्त्रता आन्दोलन से लेकर वर्तमान समाज-सुधार कार्यक्रमों तक में रहा और रहता है। किसान वो व्यक्तित्व होता है, जो जन्म से मरण तक अपनी मातृभूति से जुड़कर रहता है। अपनी जमीन को माँ मानता हुआ पूरा जीवन व्यतीत करता है। ऐसे में खेती से यदि उसके परिवार का भी भरण-पोषण ठीक से न हो, तो यह हालत उसे भावात्मक रूप से तोड़कर रख देती है।

* असि, प्रोफेसर, हिन्दी विभागाध्यक्ष, शहीद बेलमती चौहान राजकीय, महाविद्यालय पोखरी (क्वीली), टिहरी–गढ़वाल, उत्तराखंड, मो. 9045602061, E-mail : ramharidwar33@gmail.com

साहित्य समाज का दर्पण होता है और समाज के किसी भी क्षेत्र के आन्तरिक और बाह्य परिवेश का दर्शन साहित्य में सहजता से किया जा सकता है। साहित्य के सन्दर्भ में किसान की वस्तुस्थिति को समझने का प्रयास करेंगे तो भारतीय साहित्य में विशेषकर हिन्दी साहित्य में किसानों की वस्तुस्थिति और दुर्दशा का सच्चा चित्रण देखेंगे। भारत के किसान की बात हो और कथा सम्राट् प्रेमचन्द का जिक्र न हो, ऐसा असम्भव है। प्रेमचन्द से हम ही नहीं पूरा वैश्विक साहित्य-जगत भलीभाँति परिचित है। प्रेमचन्द साहित्य में किसान चेतना का विश्लेषण करने से पूर्व ऐसे नाम से आपको रूबरू होना प्रासंगिक है, जिसके नाम का जिक्र सामान्यतः कहीं नहीं होता क्योंकि किसान चेतना का सीधा सम्बन्ध किसान आन्दोलन से है और 'स्वामी सहजानन्द सरस्वती (1889-1950) संगठित भारतीय किसान आन्दोलन के प्रणेता, पथप्रदर्शक और अग्रणी जननायक थे। वर्ष 2012 में अवधेश प्रधान ने स्वामी सहजानन्द सरस्वती के लेखों का संग्रहण किया और 'स्वामी सहजानन्द सरस्वती किसान आन्दोलन की वैचारिक पृष्ठभूमि' शीर्षक से पुस्तक रूप में उसे प्रकाशित कराया, जो अपने-आप में बहुत बड़ा और साहित्य में नवीन काम है। बहुत खोजबीन के बाद स्वयं स्वामी सहजानन्द सरस्वती द्वारा लिखित और सम्पादित पुस्तकों का पता चला, जिनमें भारतीय किसान आन्दोलन का विस्तारपूर्वक वर्णन मिलता है। उनके नाम हैं—'किसान कैसे लड़ते हैं?' (1940 बाँकीपुर प्रकाशन, श्रमजीवी पुस्तकमाला), 'किसान सभा के संस्मरण' (न्यू लिटरेचर इलाहाबाद, 1947) व उनके मरणोपरान्त पटना से यदुनन्दन शर्मा ने 1952 में 'किसान क्या करें?' नामक पुस्तक प्रकाशित की। उनकी अन्य प्रकाशित पुस्तकों का विवरण निम्नवत् है—''कर्मकलाप, गीताहृदय, ब्रह्मर्षिवंश विस्तर, क्रान्ति और संयुक्त मोर्चा, ब्राह्मण समाज की स्थिति, किसान कैसे लड़ते हैं, तमगे का दूसरा रुख (अंग्रेजी में), जमींदारी का खात्मा कैसे हो, महारूद्र का महातांडव, झूठा भय और मिथ्याभिमान।''[1]

अवेधश प्रधान अपनी पुस्तक की भूमिका में लिखते हैं, ''भारतीय किसान आन्दोलन के लम्बे इतिहास में स्वामी सहजानन्द सरस्वती अप्रतिम हैं और तमाम नामी-गिरामी राष्ट्रीय नेताओं की भीड़ में बिल्कुल अलग से पहचाने जा सकते हैं। संगठित किसान आन्दोलन के क्रान्तिकारी महानायक के रूप में उनके व्यक्तित्व का विकास धीरे-धीरे अनेक मोड़ों और पड़ावों से गुजरकर हुआ था। 1940 की गर्मियों में हजारीबाग सेंट्रल जेल में अपनी आत्मकथा से 'मेरा जीवन संघर्ष' में अपनी जीवन-यात्रा का सिंहावलोकन करते हुए उन्होंने लिखा, 'मैं तो धीरे-धीरे बढ़ा हूँ। मेरे अनुभवों ने ही मेरे गुरु, शिक्षक और पुस्तकों का काम किया है।...लेकिन इतना कह सकता हूँ कि बराबर आगे बढ़ता रहूँ—यह प्रक्रिया बराबरी जारी है।''[2]

यहाँ 'स्वामी सहजानन्द सरस्वती' की चर्चा प्रासंगिक और अपरिहार्य दोनों है। क्योंकि प्रेमचन्द के लेखन में 'किसान की चिन्ता' और स्वामी सहजानन्द सरस्वती द्वारा संचालित 'किसान आन्दोलन' का समयाकाल एक है। कोई प्रमाण तो उपलब्ध नहीं हो सके, परन्तु यह कहने में कोई सन्देह नहीं होना चाहिए कि प्रेमचन्द की लेखन कहीं-न-कहीं स्वामी सहजानन्द सरस्वती से अवश्य प्रभावित रही होगी। एक समानता जो देखने को मिली वह यह कि स्वामी सहजानन्द सरस्वती का 1934 में गाँधीवाद से मोहभंग हो गया था और लगभग इसी दौरान प्रेमचन्द ने भी गाँधीवाद से खुद को अलग कर लिया था। यह एक संयोग भी हो सकता है, परन्तु फिर भी, प्रेमचन्द की लेखनी पर स्वामी जी का प्रभाव अवश्य रहा होगा। क्योंकि ''गया के किसानों की करुण कहानी में किसानों की दुर्दशा सम्बन्धी तथ्यों का संग्रह मात्र नहीं है बल्कि यह किसानों के शोषण और उत्पीड़न की, हृदय की आँखों से खींची गई सच्ची तस्वीर है। शायद ही किसी राष्ट्रीय नेता ने इतने निकट से किसान जीवन को बाहर और भीतर से, भली-भाँति देखा हो। इस दृष्टि से उनकी तुलना केवल प्रेमचन्द से हो सकती है। एक किसानों का सर्वश्रेष्ठ नेता, दूसरा किसानों का सर्वश्रेष्ठ लेखक।''[3] यह तुलना इस बात को सिद्ध करने में सहायक है कि निश्चय ही प्रेमचन्द की लेखनी जननायक स्वामी सहजानन्द सरस्वती द्वारा चलाए जा रहे किसान आन्दोलनों से प्रभावित होगी। साथ ही स्वामी सहजानन्द सरस्वती भी कहीं-न-कहीं प्रेमचन्द के साहित्य को पढ़ते रहे होंगे। क्योंकि गोदान के किसान 'होरी' की दरिद्र स्थिति का वर्णन प्रेमचन्द के जाने के बाद स्वामी सहजानन्द 1940 में सेंट्रल जेल, हजारीबाग में रहते हुए अपने लेख 'किसान क्या करें?' जो बाद में किताब के रूप में भी प्रकाशित हुआ, में कुछ इस प्रकार करते हैं, ''मगर किसान को तो जरा देखिए! खाने बिना मर रहा है! तन पर उ मांस है न चमड़ा। हड्डियाँ भी नहीं हैं! मालूम होता है कमाते-कमाते घिस गई! जठरानल ने, प्रचंड क्षुधा ज्वाला ने सबको जला दिया है। फिर भी लगान दिए चला जा रहा है। किसान तो सरकार की, जमींदार की और साहुकार की दुनिया की—कामधेनु है। वही घी, दूध, गेहूँ, चावल सबके लिए मुहय्या करता है। मगर कभी इस कामधेनु की चिन्ता सरकार ने, जमींदार ने, या दुनिया ने—मतवाली और अन्धी दुनिया ने—की है, कि क्या खाया-पीया इसने, या कतई खाया-पिया भी कि नहीं।''[4] हालाँकि स्वामी सहजानन्द जी का यह अनुभव साहित्य जन्य नहीं बल्कि अनुभव जन्य था, फिर भी दोनों के साहित्य को तुलनात्मक रूप से देखने पर आप दोनों में समानता सरलता से देख सकते हैं।

प्रेमचन्द साहित्य में किसान चेतना को समझने के लिए अति संक्षेप में भारतीय किसान आन्दोलन के विषय के इतिहास को जान लेना जरूरी होगा। बहुत लोगों का मानना है कि हमारे देश में किसानों का आन्दोलन बिल्कुल नया और खुराफती दिमागों

की उपज मात्र है। कुछेक का मानना यह भी है कि यह मुट्ठी-भर पढ़े-लिखे बदमाशों का पेशा और उनकी लीडरी का साधन मात्र है। हमारे देश के नेता भी तो ऐसा ही मानते है। उन्हें किसान सभा की कभी जरूरत-भर भी महसूस नहीं होती। बल्कि वे तो किसान आन्दोलन को देश के विकास में बाधा समझते हैं। इसीलिए प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से विरोध भी करते हैं। अभी हाल ही में दिल्ली में हुए किसान आन्दोलन को कौन भूल सकता है, सरकार द्वारा उनके आन्दोलन को किस तरह कुचलने का प्रयास किया गया।

इस विषय को स्पष्ट करने के लिए स्वामी सहजानन्द का यह व्यक्तव्य देखिए ''भारतीय किसानों का आन्दोलन प्राचीन है, बहुत पुराना है। दरअसल इस आन्दोलन के बारे में लिपि-बद्ध वर्णन का अभाव एक बड़ी त्रुटि है।...आज से प्रायः सौ सवासौ साल पहले (यानी 1822 लगभग) वाले किसान-संघर्षों एवं आन्दोलनों का वर्णन मिलता है। इसमें सबसे पुराना मालाबार के मोपला किसानों का विद्रोह है, जो 1836 में शुरू हुआ था।''[5]

निःसन्देह प्रेमचन्द हिन्दी साहित्य के वह सूर्य हैं, जिनके प्रकाश में असंख्य साहित्यकारों ने स्वयं को दैदीप्यमान किया और अभी भी इन्हीं के साहित्य के प्रकाश में वर्तमान पाठक-लेखक कुछ-न-कुछ ढूँढ़ते रहते हैं। प्रेमचन्द को हिन्दी साहित्य का गौरव कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होनी चाहिए। उनके स्वयं के जीवन के बारे में उन्होंने लिखा, ''मेरा जीवन सपाट, समतल मैदान है, जिसमें कहीं-कहीं गड्ढे तो है, पर टीलों, पर्वतों, घने जंगलों, गहरी घाटियों और खंडहरों का स्थान नहीं है। जो सज्जन पहाड़ों की सैर के शौकीन हैं उन्हें तो यहाँ निराशा ही होगी।''[6] उनकी कहानी उन्हीं की जुबानी इसी बात से समझी जा सकती है।

भारतीय कथा-साहित्य में पहली किसान जीवन और उसके संघर्षों की अभिव्यक्ति 1897 से ''फकीर मोहन सेनापति''[7] के उपन्यास 'छः बीघा जमीन' में हुई। ''किस तरह एक भ्रष्ट जमींदार किसान की जमीन हड़प लेने के लिए प्रयत्न करता है और किसान किस तरह अपनी जमीन बचाने के लिए संघर्ष करता है। यही उपन्यास का वर्ण्य-विषय है। किसान चेतना की साहित्यिक अभिव्यक्ति का यह प्रथम उपन्यास है।''[8]

प्रेमचन्द के साहित्य जीवन की शुरुआत 1901 में उर्दू रचना से हुई। इन्होंने आजीवन हिन्दी और उर्दू दोनों भाषाओं में लिखा। ''प्रेमचन्द हिन्दी और उर्दू में लिखते हुए भी सच्चे अर्थों में भारतीय साहित्यकार थे।''[9] साहित्यिक जीवन की महत्त्वपूर्ण घटना 1905 में कहानी-संग्रह 'सोज़े वतन' के प्रकाशन से घटित हुई। जिसके प्रकाशन के बाद इन्हें 'राजद्रोही' घोषित कर, इनकी इस कृति को अंग्रेज कलक्टर द्वारा जला दिया गया। पैंतीस साल के लेखकीय जीवन में इन्होंने तीन सौ

कहानियाँ, बारह उपन्यास, तीन नाटक, दो सौ से अधिक लेख, तिरतालिस निबन्ध और एक दर्जन अनुवाद प्रकाशित हुए।

प्रेमचन्द साहित्य के केन्द्र में व्याप्त किसान संवेदनशीलता ही उनके समकालीन और आधुनिक साहित्य से उन्हें अलग दर्जे का साहित्यकार बनाती है। निश्चय ही प्रेमचन्द साहित्य में किसानों का दिल धड़कता है। प्रेमचन्द की अमर कृति गोदानंन (1936) है, जिसके द्वारा प्रेमचन्द ने होरी के रूप में एक ऐसे किसान चरित्र को प्रस्तुत किया जो सहनशीलता का उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करता है। किसानो सहनशीलता के दर्शन जो होरी में होते हैं, वही आज के किसान में भी। होरी ''एक ऐसे वृक्ष की तरह है जो हवा के थपेड़ों से कभी झुकता है, कभी सिर उठाता है, लेकिन अपनी जमीन नहीं छोड़ता। होरी इतना अल्पसन्तोषी, महत्त्वाकांक्षाहीन, निष्क्रिय और समझौतावादी है कि उपन्यास के अन्त में जब उसकी मृत्यु होती है तो उसके जीवन का दुःखद अन्त पाठक को भीतर से झकझोर देता है। गोदान भारतीय किसान की निष्क्रियता की महान 'ट्रेजेडी' है।''[10] इस ट्रेजेडी का जवाब उनके अधूरे उपन्यास 'मंगलसूत्र' का नायक देवकुमार देता है ''दरिन्दों के बीच में उनसे लड़ने के लिए हथियार बाँधना पड़ेगा।''[11]

भारतीय किसान और प्रेमचन्द का आपसी सम्बन्ध संवेदनाओं से आगे बढ़कर था। उनके आपसी सम्बन्ध से भारत के सांस्कृतिक वातावरण और वर्ग-सम्बन्धों के नए स्वरूप की भी अभिव्यक्ति होती है। इसलिए आज भी किसानों की आर्थिक और सामाजिक वस्तुस्थिति को समझने के लिए प्रेमचन्द साहित्य का अध्ययन और विश्लेषण किया जाता है। क्योंकि प्रेमचन्द ने जिस संवेदनशीलता से भारतीय किसानों को अपनी कृतियों में स्थान दिया है, वैसे साहित्य की रचना आज तलक भी कोई उस स्तर पर नहीं कर सका है। प्रेमचन्द की कालजयी रचना 'गोदान' को पढ़ने के बाद आज के भारतीय किसान की स्थिति को हू-ब-हू समझा जा सकता है, जबकि यह उपन्यास 83 वर्ष पूर्व लिखा गया था।

शुरू से ही प्रेमचन्द की नजर किसानों पर टिकी हुई थी। स्वाधीनता संघर्ष में किसानों की भूमिका पर भी उनकी नजर थी। प्रेमचन्द की स्वाधीनता का अर्थ किसानों की राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक सभी क्षेत्रों में शोषण और भेदभाव मुक्ति से है। ''प्रेमचन्द ने साम्राज्यवाद, सामन्तवाद, पूँजीवाद और उसकी सहायक शक्तियों—वर्ण, धर्म, सम्प्रदाय, जाति के आधार पर मनुष्य-मनुष्य के बीच दीवाल खड़ी करने वाली शक्तियों को पहचाना।''[12] ऐसी ही अलग-अलग गुलामी की जंजीरों में जकड़ी भारतीय जनता की मुक्ति का पक्ष लेकर अपनी लेखनी चलाई। साथ ही शोषित-पीड़ित भारतीयों में किसान, स्त्री और दलित इन तीनों वर्गों को सर्वाधिक शोषित-उत्पीड़ित वर्ग के रूप में दिखाया, जिनकी आवाज स्वतन्त्रता संग्राम की आँधी में कहीं खोती जा रही थी। प्रेमचन्द का साहित्य समाज के उपेक्षित

और उत्पीड़ित वर्ग की जोरदार वकालत करता है। ''प्रेमचन्द ने भारतीय किसानों और अछूतों पर समान रूप से ध्यान दिया है।''[13]

प्रेमचन्द भारतीय किसानों के जीवन व उनकी समस्याओं से भली-भाँति परिचित थे। ''जीवन के यथार्थ के अप्रतिम चितेरे होने के कारण प्रेमचन्द ने किसान जीवन की त्रासदियों को बड़े ही सहानुभूतिपूर्वक चित्रित किया। लेकिन किसान मुक्ति के सवाल पर उनके विचार चिन्तन में एक विकास-क्रम दिखाई पड़ता है।''[14] *डॉ. रामविलास शर्मा, प्रेमचन्द और उनका युग, भूमिका से, राजकमल प्रकाशन, पाँचवाँ परिवर्धित 1989* प्रेमचन्द के किसान-विमर्श और चेतना को दो दृष्टिकोणों से समझा जा सकता है। पहला आदर्शवादी और दूसरा क्रान्तिकारी यथार्थवादी। ''पहले प्रेमचन्द घोषणा करते हैं कि आने वाला नया जमाना मजदूरों और किसानों का है। उन्हीं का शासन नए जमाने की महत्त्वपूर्ण देन होगी। लेकिन 'कर्मभूमि' और 'प्रेमाश्रम' दोनों उपन्यासों में हृदय-परिवर्तन तथा आश्रम बनाकर प्रेमचन्द मुक्त हो जाते हैं। लेकिन 'मंगलसूत्र' में घोषणा करते हैं कि मैं वोल्शेविक वसूलों का कायल हो गया हूँ।''[15]

प्रेमचन्द वर्ण-व्यवस्था और जाति-व्यवस्था को भारतीय किसान की विडम्बनाओं और समस्याओं के मुख्य कारणों में से एक मानते थे। उनका मानना था कि जाति-व्ययस्था किसानों को एक जुट नहीं होने देती। ''जाति की दीवारों में कैद किसान बेहतर जीवन का सपना नहीं देख पाता।''[16] प्रेमचन्द अपने साहित्य में जाति-मुक्ति की चिन्ता व्यक्त करते हैं और यह चिन्ता किसानों के सन्दर्भ में और भी बढ़ जाती है।

प्रेमचन्द के उपन्यास और किसान

प्रेमचन्द की स्पष्ट धारणा थी कि जब तक सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक रूप से किसान तथा आमजन मुक्त नहीं होंगे, राजनीतिक आजादी अधूरी रहेगी। राष्ट्रीय राजनीति में किसानों की नई शक्ति का जन्म हो रहा था। सोवियत क्रान्ति ने किसानों और मजदूरों में एक ताकत पैदा कर दी थी। शिक्षित बुद्धिजीवियों ने किसानों और मजदूरों का महत्त्व और ज्यादा बढ़ गया। इसी पृष्ठ-भूमि से पैदा हुआ हिन्दी में किसान समस्या पर लिखा गया पहला उपन्यास 'प्रेमाश्रम' 1927। ''प्रेमाश्रम में सामन्ती व्यवस्था के साथ किसानों के अन्तर्विरोधों को केन्द्र में रखकर उसकी परिधि के अन्दर पड़ने वाले हर सामाजिक तबके का—जमींदार, ताल्लुकेदार, उनके नौकर, पुलिस, सरकारी मुलाजिम, शहरी मध्यवर्ग—और उनकी सामाजिक भूमिका का सजीव चित्रण किया गया है।''[17] जिसमें इसका पात्र बलराज कहता है ''वलगार एक देश है जहाँ किसान-मजदूर की पंचायत राज करती है, उनके अनुसार नाम मात्र बदलने से किसानों का शोषण नहीं खत्म होगा। जैसे—जान

की जगह गोविन्द के बैठाने मात्र से समस्या का हल नहीं होने वाला है। देश की गुलामी आजादी पर कोई असर नहीं होगा।''[18] इस उपन्यास में ''प्रेमचन्द ने बलराज को हिन्दुस्तान के किसान-नौजवानों का प्रतिनिधि बनाया है। वह कसरत-कुश्ती का शौक़ीन है, गाना-बजाना, दोस्तों में गपशप करना उसे पसन्द है। वह एक नए आदर्श से प्रभावित है, जिसके अनुसार हर इन्सान को इन्सान की तरह रहने का हक मिलना चाहिए। वह किसी भी तरह का अन्याय बर्दाश्त करने के लिए तैयार नहीं है। वह उस लोहे की तरह है जो आग में तपकर इस्पात बनने की क्षमता रखता है। बलराज ने पढ़ना-लिखना भी सीखा है अखबारों से बदलती हुई दुनिया का हाल भी वह जानता है।''[19] प्रेमाश्रम का यह पात्र निश्चय ही क्रान्ति और चेतना का संवाहक है। ''बलराज दुनिया के तमाम मेहनत करने वालों को अपना भाई समझता है। इसलिए वह खुद हिन्दुस्तान के गरीब किसानों और खेत-मजदूरों के लिए लड़ने-मरने के लिए तैयार रहता है।''[20] एक घटना से यह बात सिद्ध होती है, ''मनोहर, बलराज और हलवाहा रंगी चमार खाना खाने बैठते हैं। तीनों की थालियों में जौ की मोटी रोटियाँ, अरहर की दाल और बथुए का साग है। बलराज की माँ ने एक कटोरा दूध उसके सामने रख दिया। औरों को दूध क्यों नहीं मिला? इसलिए कि बाकी दूध बेगार में चला गया था। बलराज इस पर बिगड़ उठता है। वह एक नया सिद्धान्त पेश करता है—''जो हमसे अधिक काम करता है उसे हमसे अधिक खाना चाहिए।'' उसे दूध-घी मिले और उसका हलवाहा सूखी रोटियों से ही सन्तोष करे—''ऐसा दूध-घी खाने पर लागत है।''[21] निःसन्देह 1922 के समयाकाल में प्रेमचन्द के उपन्यास का पात्र ही ऐसा साहस कर सकता था। किसान की एकता को कादिर और सुक्खू की संक्षिप्त बातचीत से समझा जा सकता है।

''कादिर खाँ—तो क्या कहते हो, लाठी चलाऊँ?

सुक्खू—और लाठी है किस दिन के लिए?

कादिर—किसके बूते पर लाठी चलेगी? गाँव में रह कौन गया? अल्लाह ने पट्ठों को चुन लिया।

सुक्खू—पट्ठे नहीं हैं, न सही, बूढ़े तो हैं। हम लोगों की जिन्दगानी किस राज काम आएगी?''[22]

प्रेमचन्द ने सदियों से दबे-कुचलों की चेतना को अपनी कथा-साहित्य का विषय चुना। जो आज तक भी जगाने का कार्य कर इन्सान की तरह जीने की तीव्र लालसा पैदा कर रही है। ''प्रेमाश्रम लिखना एक अद्‌भुत साहस का काम था।''[23]

प्रेमचन्द का अगला उपन्यास 'कर्मभूमि' भारत की स्वाधीनता आन्दोलन की गहराई और प्रसार का वर्णन करता है। यह उपन्यास सविनय अवज्ञा भंग आन्दोलन के दिनों लिखा था। ''कर्मभूमि में उन्होंने 'प्रेमाश्रम' और 'रंगभूमि' को मिलाने

का प्रयास किया है।''[24] प्रेमचन्द केवल यथार्थ को बताने वाले साहित्यकार नहीं थे। वे यथार्थ के महत्त्वपूर्ण पहलुओं को परखकर उन्हें उपन्यास में विशेष स्थान देते हैं। 'कर्मभूमि' में वह सबसे ज्यादा जोर जमीन की समस्या, लगान कम करने की समस्या, खेत-मजदूरों और गरीब किसानों के लिए जमीन की समस्या पर बल देते हैं।''[25] इसमें दिखाया गया है कि ''किसानों का मुख्य शत्रु अंग्रेजी साम्राज्य है, हालाँकि जमींदार महन्त जी के अत्याचार भी कम नहीं हैं। यह आन्दोलन असफल होता है फिर भी प्रेमचन्द ने इस आन्दोलन का इसलिए समर्थन किया है। कि इससे जनता में जागृति फैली है जो बिना इस आन्दोलन के सम्भव नहीं था। उपन्यास का अन्त आन्दोलकारियों और सरकार के बीच एकता कायम होने से होता है। प्रेमचन्द ने संकेत दिया है कि यह एकता क्षणिक है। आन्दोलन फिर होगा और अवश्य होगा।''[26]

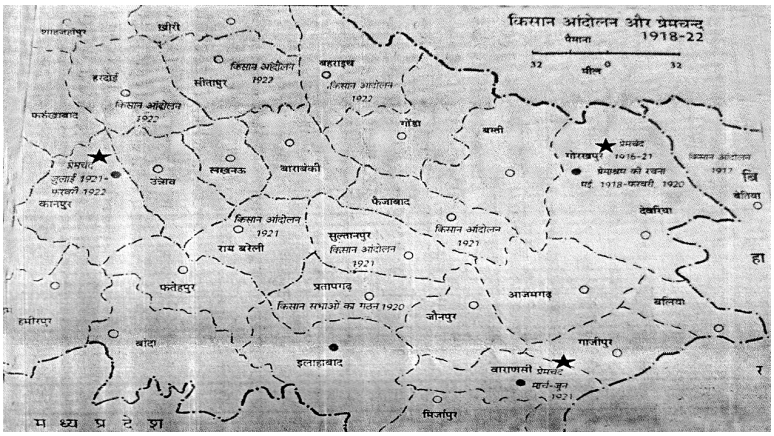

मानचित्र, वीर भारत तलवार, किसान राष्ट्रीय आन्दोलन और प्रेमचन्द 1918-22, 1990, पृ.-92 से साभार लिया गया है, जिसमें स्पष्ट है कि 'प्रेमाश्रम' लिखने के समयाकाल में प्रेमचन्द उत्तर-भारत में चल रहे किसान आन्दोलनों को समझने हेतु उन आन्दोलनों में स्वयं भी सम्मिलित हो रहे थे।

प्रेमचन्द का अन्तिम उपन्यास 'गोदान' (1936) था। जब यह उपन्यास लिखा जा रहा था, प्रेमचन्द उस समय कर्ज में डूबे थे। प्रेमचन्द की सर्वश्रेष्ठ रचना है 'गोदान'। दुःखान्त कथा है इसकी और यह अपने नाम को सार्थक सिद्ध करता है। यह उपन्यास साहित्य-जगत में किसानों की मार्मिक व्यथा दिखाने वाला एक ऐसा उपन्यास है, जिसका जिक्र आज भी ऐसे ही होता है, जैसे पहले होता था। ''छ माण आठ गुंठ, में फकीर मोहन सेनापति ने जिस किसान परम्परा का सूत्रपात किया था। गोदान उसकी चरम परिणति है।''[27] 'गोदान' के प्रकाशन से लेकर आज

तक के इक्कासी सालों में 'गोदान' की ख्याति, पठनीयता और प्रभाव में कहीं कोई कमी नहीं आई। किसी भी लेखक, किसी भी समीक्षक, किसी भी पाठक से आज तक के दस उपन्यासों के नाम बताने को कहिए तो 'गोदान' उनमें पहला होगा।''[28] उपन्यास 'गोदान' के पात्र होरी और धनिया भारतीय किसान का प्रतिनिधित्व करते हैं। होरी दब्बू और गमखोर है वहीं धनिया कठोर जबान और तेज-तर्रार है। गोबर का व्यवहार भी कमजोर प्रतीत नहीं होता।

इस उपन्यास में समेरी और बेलारी नामक अवध प्रान्त के दो गाँवों की कहानी है। जमींदार रायसाहब अमरपाल सिंह समेरी में रहते हैं और होरी बेलारी में रहता है। ''गोदान में प्रेमचन्द का प्रयास जमींदारों के आन्तरिक खोखलेपन को दिखाना नहीं रहा है और न ही किसान-जमींदार का सम्बन्ध मात्र दिखाना रहा है। बल्कि उनका प्रयास किसान के आन्तरिक, भावात्मक और वैचारिक जीवन का चित्रण करना रहा है। प्रसंगवश भले ही सम्पूर्ण समाज का वर्णन कर दिया गया है, परन्तु उपन्यास की धुरी किसान का दैनिक जीवन है।''[29] आज के खेतिहर किसानों की वस्तुस्थिति होरी से कितना मिलती है, यह देखने के लिए होरी का भोला से संवाद देखिए, ''अनाज तो सब-का-सब खलिहान में ही तुल गया। जमींदार ने अपना लिया, महाजन ने अपना लिया। मेरे लिए पाँच सेर अनाज बच रहा। यह भूसा तो मैंने रातों-रात ढोकर छिपा दिया था, नहीं तिनका भी न बचता! मगर महाजन तीन-तीन हैं, सहुआइन अलग और मंगरू अलग और दाताहीन अलग। किसी का ब्याज भी पूरा न चुका। जमींदार के भी आधे बाकी पड़ गए। सहुआइन से फिर रुपए लिये तो काम चला।''[30] ऐसे मेहनती किसानों को दाना तक नसीब नहीं होता, आज भी स्थिति में उतना सुधार नहीं हुआ है, जितना होना लाज़मी था।

भारतीय किसान की चेतना के सन्दर्भ में होरी एक कमजोर किसान है, जो कभी प्रतिरोध नहीं करता, जबकि धनिया के स्वर में तल्खी है और गोबर का चरित्र भी विरोध प्रकट करने वाला है। चूँकि गोबर शहर की दुनिया से वाकिफ हो चुका है, उसकी समझ विकसित हो गई है। ''प्रेमचन्द ने बहुत सूक्ष्म तरीके से होरी और गोबर की चेतना में फर्क दिखाया है। हालाँकि होरी की ट्रेजेडी उन्हें ज्यादा आकर्षित करती रही है, पर व्यापक इतिहास-बोध के कारण उन्होंने दिखाया है कि गोबर अलग पात्र है। वास्तव में होरी समस्त भारतीय किसानों का प्रतिनिधि नहीं है, बल्कि एक ऐतिहासिक दौर में लुप्त होता हुआ, मिटता हुआ भारतीय किसान है। उसकी ट्रेजेडी अनिवार्य है। पंडित दातादीन महाजन हैं। उन्होंने होरी को तीस रुपए दिए थे, जो अब दो सौ हो गए हैं। गोबर एक रुपया का ब्याज लगाकर सत्तर रुपए देने का प्रस्ताव रखता है। दाताहीन उबल पड़ते हैं और अपने ब्राह्मणत्व की दुहाई देते हैं। गोबर अपनी जगह बैठा रहा।

मगर होरी के पेट में धर्म की क्रान्ति मची हुई थी।''[31] जबकि गोबर पर दातादीन का ब्राह्मण होने का कोई फर्क नहीं पड़ता।

उपन्यास का अन्त 'होरी' की मृत्यु से होता है। लेकिन वास्तव में 'गोदान' का करुण प्रसंग होरी की मृत्यु नहीं, बल्कि वह धनिया है, जो किसी को कुछ नहीं समझती थी, आखिर उसकी शक्ति स्रोत उसकी ढीला-ढाला कमजोर पति होरी ही था। ''धनिया की शक्ति में होरी की उपस्थिति का तेज निहित है।''[32]

प्रेमचन्द कहानियाँ और किसान

मनुष्य जीवन के अलग-अलग पहलुओं पर प्रेमचन्द ने 300 से अधिक कहानियों की रचना की। प्रेमचन्द के उपन्यासों की भाँति ही किसान जीवन से सम्बन्धित कहानियाँ भी किसान मनोवृत्ति के पिछड़ेपन पर प्रकाश डालती हैं। किसान जीवन की मार्मिक स्थितियों के सन्दर्भों से उनकी कमजोरियों को प्रत्यक्ष करते हुए उन्हें वर्ग-चेतस बनाने-समझाने की कोशिश करती है। अपने कहानी-संग्रह 'मानसरोवर' की भूमिका में प्रेमचन्द अपनी कहानियों के विषय में बताते हुए लिखते हैं, ''उपन्यासों की भाँति कहानियाँ भी कुछ घटना-प्रधान होती हैं, कुछ चरित्र-प्रधान। यहाँ हमारा उद्देश्य मनुष्य को चित्रित करना नहीं, वरन् उसके चरित्र का एक अंग दिखाना है। यह परमावश्यक है कि हमारी कहानी से जो परिणाम का तत्त्व निकले, वह सर्वमान्य हो और उसमें कुछ बारीकी हो।''[33] किसानों के हतभाग्य होने के कारणों में से मुख्य कारणों में से एक कारण है किसान समाज में व्याप्त आपसी ईर्ष्या-द्वेष। उनकी कहानी 'मुक्तिमार्ग' में किसानों की इसी विद्वेष-भावना का चित्रण किया है। बुद्धु झींगुर के खेत में आग लगा देता है, लेकिन यह घटना कहानी में बहुत ही गौण स्थान रखती है, मुख्य वस्तु झींगुर और बुद्धु का चरित्र और उनका जीवन है। इस कहानी में भारतीय किसान-वर्ग की कुटिलता और साफ दिल दोनों का अद्‌भुत संयोग देखने को मिलता है। एक ओर तो बुद्धु झींगुर का खेत जलाता है, तो दूसरी ओर उसके घर आने पर स्वागत करता है। उधर झींगुर भी अपनी बछिया मारकर बुद्धु के सिर गोहत्या मढ़ देता है।

एक समय था जब किसान महाजनी परम्परा के चलते, उसकी पूरी जिन्दगी कर्ज उतारने में ही लग जाती थी। 'मुक्तिधन' में महाजनी का जो जाल समस्त किसानों पर लगता है, उसका रूप इस कहानी में देखने को मिलता है, ''रहमान को 200 रु. के 190 रु. मिले। कुछ लिखाई कट गई, कुछ नजराना निकल गया, कुछ दलाली में आ गया।''[34]

ऐसे ही 'सवा सेर गेहूँ' में कर्ज की समस्या का मार्मिक चित्रण किया है। जिसमें प्रेमचन्द ने कर्ज की वजह से गुलामी करने वाले शंकर की करुण कथा लिखी है। वह

एक बार सवा सेर गेहूँ उधार लेता है और उसे पटाते-पटाते बीस साल लग जाते हैं, फिर भी वह गुलामी करता हुआ मरता है। कहानी के अन्त में प्रेमचन्द कहते हैं, ''पाठक! इस वृत्तान्त को कपोल-कल्पित न समझिए। यह सत्य घटना है। ऐसे शंकरों और ऐसे विप्रों से दुनिया खाली नहीं है।''[35] प्रेमचन्द की कहानी 'पूस की रात' का 'हल्कू' और 'मुन्नी' किसे याद नहीं होगा। जब हल्कू अपनी पत्नी से सहना के आएगा की बात करता है तो मुन्नी उसे कहती है ''तीन ही तो रुपए हैं, दे दोगे तो कम्बर कहाँ से आवेगा? माघ-पूस की रात हार में कैसे कटेगी। उससे कह दो, फसल पर रुपए दे देंगे। अभी नहीं।''...

हल्कू उदास होकर बोला—तो क्या उसकी गाली खाऊँ?

मुन्नी ने तड़पकर कहा—गाली क्यों देगा, क्या उसका राज है?[36] लेकिन सच तो मुन्नी भी जानती थी, परन्तु फिर भी मुन्नी का यह विरोध सामान्य विरोध नहीं था। यह उस चेतना का परिचायक था, जो उस समय उसने हल्कू के सामने दिखाई। मुन्नी के इस कथन में 'सवा सेर गेहूँ' के शंकर की निरीहता नहीं थी। इस कहानी के अन्त में आखिर हल्कू खेती छोड़ देता है। हालाँकि मुन्नी खेती नष्ट हो जाने पर थोड़ा परेशान अवश्य होती है, परन्तु हल्कू प्रसन्न-मुख से कहता है, ''रात की ठंड में यहाँ सोना तो न पड़ेगा''[37] उनकी किसान प्रधान कहानियों 'स्वामिनी', 'बलिदान', 'विध्वंस', 'मुक्तिमार्ग', 'सुहाग की साड़ी', 'सुजान भगत', 'बाबाजी का भोग', 'बाँका जमींदार', 'पशु और मनुष्य' के किसान रूढ़ियों और धार्मिक आचारों का गुलाम है। परिवार रचना की अन्तर्निहित मजबूरियाँ उसे बँटवारे, कर्ज, बीमारी आदि के दुष्चक्र में फँसा देती हैं जिससे वह मजदूर बनकर रह जाता है। अपनी विषमता का पता होने पर भी वह उसे बदलने की राह नहीं सूझती, वह परिस्थितियों के आगे बिल्कुल असहाय है। परिस्थितियों से जूझते-जूझते वह टूट जाता है। प्रेमचन्द की कहानियों से किसान की यही तस्वीर उभरती है।

निष्कर्ष

''प्रेमचन्द की रचनाओं में तद्युगीन किसान के जीवन की यथार्थ तस्वीर है। यद्यपि यह तो नहीं कहा जा सकता है कि उनका किसान सम्पूर्ण भारतीय किसान का प्रतिनिधि है, हाँ उत्तर भारतीय किसान व उसकी समस्याओं की झाँकी उसमें परिलक्षित होती है। आज के परिवर्तित परिवेश में भी किसान की समस्याएँ कम नहीं हुई हैं। निर्धनता, बदहाली, अशिक्षा, भाग्यवादिता, रूढ़िवादिता, कर्ज, शोषण व आपसी फूट सब वैसी ही हैं। आज भी वह खेती की वैज्ञानिक तकनीकी से अनजान है। आज भी उसकी आँखें आकाश की ओर बादलों को ताकती हैं, ताकि सूखते खेत हरे हो सकें सरकारी मंचों से प्रत्येक वर्ग के उत्थान की बात बड़े जोर-शोर से की जाती है, किन्तु किसान आज भी आत्महत्या करने को विवश है। सवाल उठता है आखिर

देश का अन्नदाता कब तक इन तकलीफों से जूझता रहेगा? प्रेमचन्द का साहित्य इस सम्बन्ध में हमें बहुत कुछ सोचने को विवश करता है।''[38]

आज भी हमारे देश में किसानों की हालत में कितना सुधार हो पाया है। इसलिए आज भी भारतीय किसानों के सन्दर्भ में प्रेमचन्द और साहित्य प्रासंगिक बना हुआ है ''हम एक ऐसे दौर में हैं जहाँ प्रेमचन्द को फिर से पढ़ा जाना चाहिए और खुशी की बात है कि उन्हें पढ़ा जा रहा है। अभी एक प्रतिष्ठित अंग्रेजी प्रकाशक ने उनकी लगभग सभी महत्त्वपूर्ण कहानियों का अनुवाद प्रकाशित किया है। वे दुनिया के प्रतिष्ठित विश्वविद्यालयों में पढ़ाए जा रहे हैं। इसका केवल सौन्दर्यशास्त्रीय और साहित्यिक आधार ही नहीं है बल्कि सामाजिक और राजनीतिक आधार भी। हालात यह हैं कि यदि किसी बड़े सेठ को भारत के किसी हिस्से में जमीन का कोई टुकड़ा पसन्द आ जाए तो उसे सरकार से कहने-भर की देर है। सरकारों ने कानून बना रखा है और वे कानून की मदद से किसी की जमीन लेकर सेठ-साहूकार को दे सकते हैं। सड़क बनाने के लिए, हवाई अड्डा बनाने के लिए, शीतल पेय बनाने के लिए जमीनें जबरदस्ती ली जा रही हैं और किसानों को जबरदस्ती उसकी कीमत लेने को मजबूर कर दिया जाता है। जो बात रंगभूमि में सूरदास ने कहने की कोशिश की थी, वही बात आज जब कोई किसान कह रहा है तो उसे निशाना साधकर गोली मारी जा रही है।''[39]

सन्दर्भ सूची

1. जननायक श्री स्वामी सहजानन्द सरस्वती, महारूद्र का महातांडव, किसानों के देवता प्रकाशक श्री सीतारामाश्रम बिहटा, पटना पुस्तक के बैक कवर से उद्धृत
2. सं–अवधेश प्रधान, स्वामी सहजानन्द सरस्वती किसान आन्दोलन की वैचारिक पृष्ठभूमि, ग्रन्थ शिल्पी प्रा.लि. दिल्ली, 2012, पृ–9।
3. वही, पृ–11।
4. स्वामी सहजानन्द सरस्वती, किसान क्या करें? प्रकाशक–पं. यदुनन्दन शर्मा, जनरल सेक्रेटरी, अखिल भारतीय संयुक्त किसान सभा, कदमकुआँ (पटना–3), बिहार, 1952, पृ–9।
5. स्वामी सहजानन्द सरस्वती, किसान सभा के संस्मरण, न्यू लिटरेचर, इलाहाबाद, 1947, पृ–5 व 6।
6. प्रो. नामवर सिंह, प्रेमचन्द और भारतीय समाज, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010, पृ–17।
7. राधेगोविन्द शाही, किसान चेतना और प्रेमचन्द का साहित्य, लोकायत प्रकाशन, वाराणसी, 2012 उद्धृत।

8. वही, पृ—8।
9. प्रो. नामवर सिंह, प्रेमचन्द और भारतीय समाज, राजकमल, प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010, पृ—9।
10. वही, पृ—21।
11. वही, पृ—21।
12. राधेगोविन्द शाही, किसान चेतना और प्रेमचन्द का साहित्य, लोकायत प्रकाशन, वाराणसी, 2012, पृ—63।
13. वही—64।
14. डॉ. रामविलास शर्मा, प्रेमचन्द और उनका युग, राजकमल प्रकाशन, पाँचवाँ परिवर्धित 1989, भूमिका से।
15. राधेगोविन्द शाही, किसान चेतना और प्रेमचन्द का साहित्य, लोकायत प्रकाशन, वाराणसी, 2012, पृ—65।
16. राधेगोविन्द शाही, किसान चेतना और प्रेमचन्द का साहित्य, लोकायत प्रकाशन, वाराणसी, 2012, पृ—68 से उद्धृत।
17. वीर भारत तलवार, किसान राष्ट्रीय आन्दोलन और प्रेमचन्द 1918-1922, नादर्न बुक सेंटर नई दिल्ली, 1990, पृ—2।
18. राधेगोविन्द शाही, किसान चेतना और प्रेमचन्द का साहित्य, लोकायत प्रकाशन, वाराणसी, 2012, पृ—68।
19. डॉ. रामविलास शर्मा, प्रेमचन्द और उनका युग, राजकमल प्रकाशन, पाँचवाँ परिवर्धित, 1989, पृ—47।
20. वही, पृ—49।
21. वही, पृ—49।
22. डॉ. रामविलास शर्मा, प्रेमचन्द और उनका युग, राजकमल प्रकाशन, पाँचवाँ परिवर्धित, 1989, पृ—49 से उद्धृत।
23. राधेगोविन्द शाही, किसान चेतना और प्रेमचन्द का साहित्य, लोकायत प्रकाशन, वाराणसी, 2012, पृ—88।
24. वही, पृ—88।
25. डॉ. रामविलास शर्मा, प्रेमचन्द और उनका युग, राजकमल प्रकाशन, पाँचवाँ परिवर्धित, 1989, पृ—81।
26. राधेगोविन्द शाही, किसान चेतना और प्रेमचन्द का साहित्य, लोकायत प्रकाशन, वाराणसी, 2012, पृ—88।
27. वही, पृ—98।
28. तरसेम गुजराल, दस कालजयी उपन्यास जमीन की तलाश, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2018, पृ—34।

29. प्रो. रामवक्ष, प्रेमचन्द और भारतीय किसान, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012, पृ–170।
30. प्रेमचन्द, गोदान, सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, 1976, पृ–21।
31. प्रो. रामवक्ष, प्रेमचन्द और भारतीय किसान, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012, पृ–176।
32. वही, पृ–177।
33. प्रेमचन्द, मानसरोवर–1, हंस प्रकाशन इलाहाबाद, 1970, पृ–10, भूमिका से।
34. प्रेमचन्द, मानसरोवर–3, 'मुक्तिधन', हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1968, पृ–179।
35. प्रेमचन्द, मानसरोवर–3, 'सवा सेर गेहूँ', हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1968, पृ–148।
36. प्रेमचन्द, मानसरोवर–1, 11वाँ संस्करण, 'पूस की रात, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1970, पृ–158।
37. प्रेमचन्द, मानसरोवर–1, 11वाँ संस्करण, 'पूस की रात, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1970, पृ–164।
38. http://www.setumag.com/2018/08/Farmers-in-Premchand-Literature.html18-11-19 4:00AM
39. http://thewirehindi.com/52650/premchand-rangbhumi-hindi-litearature-society/15-11-19 4:39PM

भ्रमरगीत सार का भाषाई सौन्दर्य

उमेश कुमार

साहित्य भाषा की दृष्टि से भ्रमरगीत का अध्ययन बहुत समीचीन है। नई-समीक्षा पद्धति में साहित्य-भाषा की दृष्टि से कथ्य की आलोचना के नए द्वार खुले हैं। वस्तुतः भाषाई आधार पर अध्ययन अनुशीलन आलोचक के पास हमेशा नए अर्थोद्घाटक होता है।

भ्रमरगीत में महाकवि सूरदास का अद्भुत सृजनात्मक सामर्थ्य दिखाई देता हैं जाहिर है उनकी इस शिल्पसिद्धि में भाषा का सरोकार सबसे नजदीक और गम्भीर है। सूरदास ने श्री कृष्ण की लीलाओं का गायन रस माधुरी ब्रज भाषा में किया था। वह ब्रज क्षेत्र के निवासी थे। उस क्षेत्र की धरा में जिस भाषा का प्रवाह था उसी में ब्रजनन्दन श्री कृष्ण की लीलाओं का गुणगान स्वाभाविक था।

कबीर अपने विचारों को अभिव्यक्ति करने के लिए रचनात्मकता की सोच से परे थे। यह और बात थी कि उनके विचार ही उनके गीत बन गए। अनायास ही, उसका सृजनात्मकता से गम्भीर सरोकार जुड़ गया। उसकी पंचमेल भाषा को उनके भावात्मक संवेग ने एक सीमा तक तराशा है। भाषाई सन्दर्भ में सूरदास की स्थिति इसके ठीक अलग है। उन्होंने सृजनात्मकता से नाता जोड़ा—'ताते सूर सगुन-लीला पद गावैं'। जब गाने का विचार मन में आया तो वे उसी सीमा तक सजग हुए और इस सजगता से भाषा में कलात्मक भंगिमा आई। इसे कलात्मक अभिजात्यता कह सकते हैं किन्तु सूरदास के यहाँ तो कबीर से भी ज्यादा भावनात्मक संवेग दिखाई देते हैं। विशेषतः—भ्रमरगीत प्रसंग में। इसी कारण यह संवेग भाषा को अनगढ़ बना देता है, जैसे—

हम तो नन्द घोष की दासी—

नाम गोपाल जाति कुल गोपहिं, गोप-गोपाल उपासी।
गिरिवरधारी, गोधनचारी, वृन्दावन-अभिलाषी।।

सहायक आचार्य हिन्दी, राजकीय वाणिज्य महाविद्यालय, अलवर (शोधार्थी राज ऋषि भर्तृहरि मत्स्य विश्वविद्यालय, अलवर), E-mail : drukumar7@gmil.com, मो. 8769642307

उक्त पद में रचनाकार की कलात्मक भंगिमा देखने योग्य है। आनुप्रासित लालित्य में एक विशेष सृजनात्मक सजगता द्रष्टव्य है किन्तु गोपियाँ जिस भावात्मक संवेग में अपने को नन्दघोष की दासी कहती हैं वह संवेग ही इस पद की भाषा को प्रकृत्या अनगढ़ बना देता है।

गोकुल सबै गोपाल उपासी
जोग अंग साधत जो ऊधो
ते सब बसत ईसपुर काशी
का अपराध जोग लिखि पठवत
प्रेम भजन तजि करत उदासी।

का अपराध... पंक्ति में सूर ने मानो गोपियों की समस्त विरह कातरता को सम्मूर्त कर दिया है। इस सम्मूर्तन की प्रक्रिया के पीछे सत्य यही है कि वह गोपियों के भाव को भाषा के अन्तरालों में जी रहे हैं, बिना जिए ऐसा सम्मूर्तन हो ही नहीं सकता।

यों तो भ्रमरगीत का कथ्य बहुत संक्षिप्त है—उद्धव का गोकुल आकर गोपिकाओं को योग सन्देश देना और गोपिकाओं को विरह-वेदना। इस कथ्य में सूर ने जिस तरह विरह वैविध्य रचा है वह अपने में अद्वितीय है एक-एक पद में असंख्य मानसिक दशाओं का चित्रण ही भावनाओं के विभिन्न आयामों को प्रदर्शित करने वाले का बहुआयामी होना जरूरी है। यहाँ पर सूर की भाषाई शिल्प-सिद्धि देखने योग्य है। इन अलग-अलग दशाओं का चित्रण भाषा की अलग-अलग भाव-भंगिमाओं के माध्यम से होता है। फिर भी कहीं शिल्पगत भेद दृष्टिगोचर नहीं होता है बल्कि सारा एक ही नजर आता है। यह कैसे सम्भव हुआ? जाहिर है सूर मनोभावानुकूल भाषा में समा गए हैं, यही उनकी भाषा की प्रसंगानुकूलता है, जैसे—ऊधो हम अति निपट अनाथ... पद को ही देख लें। यह पद गोपिकाओं की परमविरहासक्ति की आत्यन्तिक कातर दशा से शुरू होता है। इसमें दूसरी पंक्ति की भाषाई स्वर भंगिमा ध्यान देने योग्य है—जैसे मधु तोरे की माखी त्यों हम बिनु ब्रजनाथ। इसकी टोन में एक खास तरह की आर्द्रता है जो पाठक को करुण रस में विभोर कर देती है। इसी पद की अन्तिम पंक्ति में भाषाई स्वर भंगिमा बदल गई है—

सूर विधाता रचि राख्यो है, कुब्जा के मुख भोग। यह व्यंग्य और ईर्ष्या से मिला-जुला प्रेम का स्वर है। इसके ध्वनन का आस्वाद भी परिवर्तित हो गया है, लेकिन यह भाषाई विस्तार सारे पद की भाषाई एकता को बाँधे रखता है। भाषा स्वयं के भावानुकूल बना लेती है।

कुछ पदों में केवल व्यंग्य है, उलाहना है, वहाँ भाषा का सम्पूर्ण प्रभाव हास्य और करुणा की धारा का प्रवाह करता है। ऐसे पदों के ध्वनन में भी एक विशेष प्रकार का तीखापन होता है—

प्रकृति जोई जाके अंग परी
स्वान-पूँछ कोटिक जो लागै।
सूधी न काहू करी

× × ×

जबकि कुछ पदों में वियोग की धारा का प्रवाह है—

निसि दिन बरसत नैन हमारे

× × ×

हमारे हरि हारिल की लकरी

× × ×

सखि री हरिहिं दोष जानि देहु।।

ऐसे पदों का ध्वनन पाठक के मनस को वियोगमय कर देता है।

आचार्य शुक्ल ने सूर की भाषा को साहित्यिक ब्रज भाषा माना है। शुक्ल जी के इस अभिमत से वैमत्य होने की कोई वजह नहीं है, लेकिन इस अभिमत के सन्दर्भ में कुछ आवश्यक प्रश्न जरूर उठते हैं। सूर की गोपियाँ लोक प्रतिनिधित्व करती हैं, वे श्री कृष्ण के प्रेम में रँगी भोली-भाली ग्वालिनें हैं, फिर भी उनके मुख से साहित्यिक ब्रज भाषा बुलवाना अस्वाभाविक तो नहीं, इससे सूर का लोक पक्ष आहत तो नहीं? यह सगुणोपासक की अभिजात्य मानसिकता का सम्बल तो नहीं? किंचित ये सन्देह पैदा हो तो हों, लेकिन सूरदास सम्पूर्ण ईमानदारी के साथ इन सन्देहों से परे ठहरते हैं। भाषा वैज्ञानिक तौर पर भले ही सूरदास की भाषा साहित्यिक ब्रजभाषा की श्रेणी में आती हो, और आती है। इसमें कोई सन्देह नहीं है, लेकिन सूर ने जिस साहित्यिक ब्रजभाषा का प्रयोग किया वह ब्रज की सामाजिक-सांस्कृतिक प्रकृति के अनुसार है, ब्रज के लोक-मानस में रची-बसी है। सम्प्रेषणीयता के तौर पर यह ब्रज को सामान्य जन की भाषा ही दिखती है। यह सूर की सृजनात्मक सार्थकता को सिद्ध करती है।

भ्रमरगीत में लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रयोग अद्‌भुत है। गौरतलब है कि सूर ऐसे स्थानों पर अपनी भाषा से तटस्थ रहते हैं। यहाँ उनकी भाषाई सिद्धि उजागर होती है। लोकोक्तियाँ व मुहावरे जगह-जगह पर अपने प्रयोग के लिए अनायास ही दिख जाते हैं। इसीलिए वे अपनी प्रकृति में स्व-सम्प्रेरित दिखते हैं। किंचित यह इस धारा में सूर को आभास करना होता तो भावों की स्वाभाविकता सुरक्षित नहीं रहती। लोकोक्तियाँ व मुहावरे स्वसंवेद्य ही रह जाते। सर्वसामान्य संवेद्यता हित भाषा न तो इतनी अभिव्यंजनाशील होती और न इतनी समर्थ।

आए जोग सिखावन पांडे
कहौ मधुप कैसे समाएँगे, एक म्यान दो खाँड़ें

कहु षटपद कैसे खैयतु है हाथिन के संग गाड़ें
काकी भूख गई बयारि भखि, बिना दूध घृत मांडे
सूरदास तीनों नहीं उपजत, धनिया धान कुम्हाडे।

उक्त सम्पूर्ण पद में लोकोक्तियों की हृदयस्पर्शिता देखी जा सकती है। सूर की गोपियाँ पढ़ी-लिखी नहीं हैं, किन्तु यह स्पष्ट है कि वे कढ़ी खूब हैं। सूर गोपियों के विस्तृत लोकानुभव से परिचित हैं। ये गोपियाँ श्रम संस्कृति से हैं। इसलिए लोकानुभव की अधिकारिणी हैं। लोकोक्तियाँ भाषसा को अनगढ़ बनाती हैं और अनगढ़ भाषा का प्रवाह गोपियों की उस मानसिकता को ही प्रकट करता है, जिसमें विरह का अप्रतिहत उन्माद है, कृष्ण प्रेम की मधुर यादें हैं, इसलिए आँसुओं में भीगी शोखी है, मान है और अपने दुर्भाग्य पर हास है। उद्धव के उपदेशों का सामना इसी भाषा से होता है।

सूर ने लोकोक्तियों द्वारा भाषा को जो व्यंजनात्मक सामर्थ्य दी है, वह अद्वितीय है। हृदय को बेधने वाले नेत्रों में जो बाँकपन होता है, किंचित सूर की भाषा में उससे ज्यादा बाँकपन है, उससे अधिक भंगिमा है। यह अत्युक्ति न होगी कि भ्रमरगीत के इसी भावप्रेरित वचन वक्रता के ही कारण सूर भक्तिकालीन साहित्य में ही अकेले नहीं हैं, वह अद्यावधि अद्वितीय हैं। सृजनशीलता के स्तर पर यह उनकी अनछुयी चुनौती है। भाषा को इस तरह का शोखपन उन्होंने जान-बूझकर दिया है। घटनागत और देशकालगत विविधता के अभाव में एकरसता और पुनरुक्ति दोष से मुक्ति के लिए यह जरूरी था कि वह भाषा को अधिक व्यंजनात्मक बनाते।

रहुरे मधुरकर मधु मतवारे
आयो घोष बड़ो व्यापारी

इसमें सूर ने मनोविज्ञान के अनछुए पहलुओं को मूर्त कर दिया है। यदि उनके लोकानुभव का फलक बड़ा न होता और यदि उनकी जनवादी सोच नहीं होती तो वे ऐसी लोकोक्तियों का प्रयोग नहीं कर पाते। इसीलिए भ्रमरगीत की भाषा अपने विश्लेषण के लिए अतिरेक सजगता चाहती है।

शब्द-ज्ञान, अर्थ-प्रवाह और अर्थ-विस्तार की दृष्टि से भी भ्रमरगीत की भाषा अपनी अलग पहचान रखती है, सूर के शब्द-ज्ञान का चरमोत्कर्ष भ्रमरगीत में ही दिखता है—

मधुवनिया लोगनि को पतिआय
हरि हैं राजनीति पढ़ि आए
एते पै तोहि सूझत नाहिंन जोग सिखावन आए।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. सम्पा. कृष्णानन्द, त्रिवेणी, प्रकाशन—नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी और नई दिल्ली, सं. 2057 वि.।
2. लाल, डॉ. किशोरी, सूरदास और भ्रमरगीत सार, प्रकाशन—अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद, 1997।
3. संपा. शुक्ल आचार्य रामचन्द्र, भ्रमरगीत सार, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2009।
4. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र, हिन्दी साहित्य का इतिहास, प्रकाशन—नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, सं. 2053 वि.।
5. चतुर्वेदी, रामस्वरूप, हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2015।
6. शुक्ल, डॉ. केशरी नारायण, आधुनिक काव्यधारा।
7. वारकर, डॉ. आनन्द, हिन्दी साहित्य में दलित-चेतना, विद्या विहार, गाँधी नगर, कानपुर, 1986।
8. द्विवेदी, आचार्य हजारी प्रसाद, हिन्दी साहित्य की भूमिका, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1959।
9. मिश्र, डॉ. सरजू प्रसाद, आधुनिक हिन्दी कविता में व्यक्तिगत अंकन, पुस्तक संस्थान, कानपुर, 1977।
10. डांगे, श्रीपाद अमृत, जन जीवन और साहित्य।

राष्ट्रवाद का उदय एवं समकालीन विमर्श

डॉ. किरन बाला
डॉ. राजेश पालीवाल

राष्ट्रवाद जटिल एवं बहुआयामी अवधारणा है। सीमित अर्थ में राष्ट्रवाद सांस्कृतिक, धार्मिक, भाषायी, मनोवैज्ञानिक तत्त्वों पर आधारित होता है। किन्तु राष्ट्रवाद की भावना किसी भी जाति, धर्म, प्रजाति, नस्ल, भाषा की भावना से बढ़कर होती है। राष्ट्रवाद शब्द की उत्पत्ति एक राष्ट्र की अवधारणा से हुई है। यह एक ऐसा विचार है जो शारीरिक एवं सांस्कृतिक रूप से भिन्न समूहों को एकसूत्र में बाँधे रखता है[1]। "एक राष्ट्र एक राजनैतिक व्यवस्था के अन्तर्गत स्वेच्छा से रहने या रहने का प्रयत्न करने वालों का एक सांस्कृतिक समुदाय होता है जो समान नैतिक भावनाओं के शक्तिशाली सूत्रों द्वारा आबाद होता है[2]।" यद्यपि समान भौगोलिक, समान इतिहास, भाषा, आर्थिक एकता राष्ट्रीयता की पूर्व दशाएँ हैं लेकिन राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया लोगों की राष्ट्र बनाने की आम नैतिक भावना से पूर्ण होती है। अतः सम्पूर्ण अर्थ में राष्ट्र की प्ररचना कभी नहीं होती क्योंकि एक ओर राष्ट्र समरूपता स्थापित करने का प्रयास करता है तो दूसरी ओर विविधता चाहने वालों की ओर से इसे हमेशा चुनौती मिलती रहती है।

"एमिल दुर्खीम और लेनिन जैसे विद्वानों ने परिपक्व राष्ट्रवाद को वास्तविक एवं सुदृढ़ अन्तर्राष्ट्रीयवाद की पहली शर्त माना है, जिसमें विविधता को एक सामान्यता के रूप में स्वीकार किया जाता है।[3] 18वीं सदी से पूर्व राष्ट्रवाद की भावना अस्तित्व में नहीं थी। 17वीं शताब्दी में राष्ट्र शब्द का अभिप्राय राज्य की जनसंख्या से हुआ करता था। 1772 में पोलैंड विभाजन के बाद राष्ट्र काफी प्रचलित हुआ। इसका अर्थ देशभक्ति से लिया जाने लगा। 18वीं सदी के अन्त में एक राजनैतिक शक्ति के रूप में इसका उदय हुआ। 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में राष्ट्र के अर्थ को

*डॉ. किरन बाला, असि. प्रोफेसर, समाजशास्त्र, एस.एस.डी.पी.सी. गर्ल्स (पी.जी.) कॉलेज, रुड़की
**डॉ. राजेश पालीवाल, असि. प्रोफेसर राजनीति विज्ञान बी.एस.एम. (पी.जी.) कॉलेज, रुड़की

राजनैतिक स्वतन्त्रता अथवा प्रभुसत्ता से लगाया जाने लगा। चाहे वह प्राप्त कर ली हो या वांछित हो[4]। राष्ट्रवाद का विकास प्रत्येक देश में भिन्न-भिन्न रूपों में हुआ। जर्मन के राष्ट्रवाद का रूप जातीय आधार पर विकसित हुआ। अमेरिका तथा इग्लैण्ड, में राज्य एवं संविधान के प्रति निष्ठा के रूप में, एशिया तथा अफ्रीका में विदेशियों के प्रभुत्व से आजादी के रूप में इसका विकास हुआ। वास्तव में राष्ट्रवाद की भावना उत्पन्न करने में देशकालीन परिस्थितियों की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। अमेरिका, फ्रांस की क्रान्तियों ने लोकतान्त्रिक राष्ट्रवाद की भावना को उद्घाटित किया, जिसने यह प्रमाणित कर दिया कि जनता पर उसकी इच्छा के विरुद्ध शासन नहीं किया जा सकता है। नेपोलियन विजय एवं युद्धों ने यह सन्देश इंग्लैण्ड, जर्मनी, इटली, रूस, हॉलैण्ड इत्यादि देशों में पहुँचाया। 18वीं शताब्दी में फ्रांस, हॉलैण्ड और पुर्तगाल ने एशिया एवं अफ्रीका के अनेक भागों में अपने उपनिवेश स्थापित किए। भारत, श्रीलंका, चीन, मिश्र, ईरान, सऊदी अरब, पाकिस्तान आदि एशिया के देशों में उपनिवेशवाद के विरुद्ध तथा स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए राष्ट्रीय आन्दोलनों का उदय हुआ। एक राजनैतिक विचार के रूप में राष्ट्रवाद 18वीं शताब्दी के बाद अस्तित्व में आया। समाजशास्त्र में इसकी शुरुआत रूथ बेनडिक्ट (1941) द्वारा किए गए जापानियों के राष्ट्रीय चरित्र के अध्ययन से हुई[5]।

भारत में राष्ट्रवाद की भावना के तत्त्व पवित्र नदियों, धर्म, संस्कृति, सांस्कृतिक मूल्यों के रूप में मौजूद रही। "वैदिक काल में, अर्थवेद में कहा गया है कि वरुण राष्ट्र को अविचल करे, बृहस्पति राष्ट्र को स्थिर करे, इन्द्र राष्ट्र को सुदृढ़ करे और अग्निदेव राष्ट्र को निश्चल रूप से धारण करे[6]।" 16वीं सदी में भारत अपनी समृद्धि और गौरव के चरमोत्कर्ष पर था, जिससे प्रभावित होकर ईस्ट इण्डिया कम्पनी के माध्यम से अंग्रेजी व्यापारियों ने भारत की धरती पर कदम रखे। 1750 में कम्पनी ने पॉवर पॉलिटिक्स का खेल प्रारम्भ किया। 100 वर्षों तक के कम्पनी शासन के बाद राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक क्षेत्रों में ऐसी प्रवृत्ति का विकास हुआ जिसने भारत की जनता को कम्पनी के विरुद्ध खड़ा किया[7]। पं. नेहरू के शब्दों में "ब्रिटिश शासन द्वारा स्थापित भारत की राजनैतिक एकता सामान्य अधीनता की एकता थी, लेकिन उसने सामान्य राष्ट्रीयता की एकता को जन्म दिया[8]। "1857 का प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम राष्ट्रवाद की भावना का परिणाम था। भारत में बौद्धिक पुनर्जागरण आधुनिक राष्ट्रवाद के उदय का महत्त्वपूर्ण कारण था। पुनर्जागरण, सुधार आन्दोलनों तथा इनके प्रणेता ने राष्ट्रवाद को नई दिशा प्रदान की। ए.आर. देसाई ने सुधार आन्दोलनों के सम्बन्ध में लिखा है कि "यह आन्दोलन कम अधिक मात्रा में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और सामाजिक समानता के लिए संघर्ष थे और इनका चरम लक्ष्य राष्ट्रवाद था[9]।" राष्ट्रीयता पर गांधी जी के स्पष्ट विचार उनकी "निष्ठा की क्रम परम्परा" (श्रेणीबद्धता) की नीति जिसमें सम्पूर्ण मानव जाति समाहित है। निष्ठा क्रम परम्परा

अर्थात् परिवार के लिए अपना बलिदान, गाँव के लिए परिवार का, राज्य के लिए अपने ग्राम का, राष्ट्र के लिए अपने राज्य का बलिदान, मानवीयता के लिए राष्ट्र का बलिदान, आवश्यकता पड़ने पर सम्पूर्ण विश्व के लिए देश का बलिदान करना। अतः गांधी की राष्ट्रीयता की अवधारणा का अन्तिम लक्ष्य मानवता की सेवा था[10]। 1909 में लिखी पुस्तक हिन्द स्वराज में गांधी जी ने भारतीय राष्ट्र के विस्तृत दृष्टिकोण को प्रतिपादित करते हुए लिखा है कि यह एक गहन नैतिक एवं आध्यात्मिक आधार पर खड़ी सभ्यता थी, भारतीय सभ्यता अतिराष्ट्रवादी नहीं थी, वरन् मानव अधिकारों, स्त्री महत्त्व, प्रजातान्त्रिक प्रशासन प्रत्येक जाति, वर्ण, धर्म के प्रति सम्मान एवं बल के न्यूनतम प्रयोग पर आधारित थी[11]। गांधी जी महिलाओं को भी राष्ट्रीय एवं राजनैतिक आन्दोलनों में भाग लेने के लिए प्रेरित किया[12]। नेहरू कट्टर राष्ट्रवादी होते हुए भी महान मानवतावादी थे। उनकी मानवता में आदर्श आस्था थी। वे मानते थे कि मानव में गिर-गिर कर उठने की और फिर से आगे बढ़ने की अपार शक्ति है। नेहरू ने विश्व इतिहास के अध्ययन से यही सीखा था कि मनुष्य की विकास यात्रा अनन्त है। वह कभी समाप्त नहीं होती है। मनुष्य ने हर विध्वंस के बाद सृजन की कोशिश की है। वह हर युद्ध के बाद शान्ति स्थापना की दिशा में आगे बढ़ा है[13]। स्वामी दयानन्द ने अपने ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश में लिखा है कि "विदेशी राज्य कितना ही अच्छा क्यों न हो, स्वदेशी राज्य चाहे उसमें कितनी ही त्रुटियाँ क्यों न हो, से अच्छा है[14]।" रवीन्द्रनाथ टैगोर ने भारतीय राष्ट्रवाद के शान्तिप्रिय एवं समन्वयकारी स्वरूप के दर्शन को स्वीकार करते हुए संकीर्ण राष्ट्रवाद के शान्तिप्रिय एवं समन्वयकारी स्वरूप के दर्शन को स्वीकार करते हुए संकीर्ण राष्ट्रवाद के स्थान पर अन्तर्राष्ट्रीयवाद व मानवतावाद का विचार प्रकट किया। उन्होंने कहा था कि मैं मानवतावाद पर देशभक्ति की विजय कभी नहीं होने दूँगा[15]। पाश्चात्य शिक्षा ने भी भारतीय राष्ट्रवाद को नवजीवन प्रदान किया[16]। राष्ट्रीय आन्दोलन ने भारत में समान राष्ट्रीयता की भावना पैदा की। संविधान ने इस भावना को आगे बढ़ाया। भारत की पहली कैबिनेट जिसमें लगभग सभी धर्मों का प्रतिनिधित्व था, इसका प्रमाण है।

भारत विविधताओं का देश है, बाहर से यहां जितनी जातियाँ आईं वे यहीं के रंग में रंग गईं। इसी मेलजोल के फलस्वरूप भारत में एक समान संस्कृति और परम्परा का विकास हुआ। भारत को विविधता के बीच भी एकता के अनेक सूत्र पाए जाते हैं। एकता के इन सूत्रों के संरक्षण से ही भारतीयता की भावना उत्पन्न की जा सकती है। भारत की पहचान विभिन्न सांस्कृतिक धार्मिक और भाषायी विविधता वाले देश की रही है और इसी बुनियादी ढाँचे में इसका विकास भी सम्भव हुआ है। विविधताओं के कारण भारतीय राष्ट्रवाद किसी धर्म, जाति, भाषा संस्कृति पर आधारित नहीं है। बल्कि बहुलतावादी लोकतन्त्र से जुड़ा है। भारतीय संविधान की प्रस्तावना में मानवीय मूल्य समाहित है। ये जीवन मूल्य ही स्वतन्त्रता भारत के आदर्श रहे हैं, चाहे वह इन्हें

पूरी तरह से प्राप्त न कर सका हो[17]। संविधान निर्माताओं ने भारत के सैकुलर राजनीति प्रणाली के एक ऐसे मॉडल की परिकल्पना की जो समतावादी (सर्वधर्म सम्भाव) हो लेकिन मानव गरिमा में प्रगतिशील बढ़ोत्तरी में मेल खाने वाले कल्याणकारी राज्य के उसूलों से ओतप्रोत भेदभावहीन सामाजिक व्यवस्था के ढाँचों के तहत धर्मों की रक्षा करे[18]।

संविधान द्वारा शक्तिशाली लोकतन्त्र की स्थापना के बावजूद भी गत 70 वर्षों में प्रादेशिकता, भाषा, धर्म, अल्पसंख्यकों और पिछड़े वर्गों के नाम पर देश में मतभेद तीव्र हुए हैं। आतंकी गतिविधियाँ भारत की एकता एवं अखण्डता के लिए संकट पैदा करती हैं। अल्पसंख्यक राजनीति के नए आयाम के रूप में पिछले तीन दशकों से भारतीय राजनीति के क्षितिज पटल पर तेजी से उभर कर सामने आए। इस प्रवृत्ति के सूत्रधार कट्टरपंथी धार्मिक संगठन रहे हैं[19]। अंग्रेजों की फूट डालो राज करो की नीति का विचार आजाद भारत की राजनीति में भी प्रमुख भूमिका में रहा है। राष्ट्रीय संकट के समय भले ही राष्ट्र एकजुट हुआ है किन्तु सामान्य परिस्थितियों में राष्ट्रीय एकता अखण्डता को बनाए रखने की समस्या बनी रही। विघटनकारी प्रवृत्ति ने भारत की अखण्डता और एकता के लिए संकट पैदा किए हैं। देश के विभिन्न हिस्सों में साम्प्रदायिक संघर्ष भी होते रहे हैं। राष्ट्रवाद के नाम पर मानवाधिकार कार्यकर्ताओं की आवाज को दबाना, आरटीआई कार्यकर्त्ताओं की हत्या, अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता पर अंकुश, धार्मिक मान्यताओं का दुरुपयोग करके राष्ट्रवाद के नाम पर भटकाऊ विमर्श पैदा किया जा रहा है। आज हमारी राष्ट्रीयता इस बात से तय हो रही है हम क्या खाते हैं[20]। बड़े पैमाने पर मॉब लिंचिग की घटनाओं के माध्यम से कृत्रिम राष्ट्रवाद को उत्पन्न करने का प्रयत्न किया जा रहा है, जिससे इसका वास्तविक अर्थ कहीं खोता नजर आ रहा है। 2006 में राजस्थान की सरकारी गौशाला में गायों की भूख से मौत, गाय को पूजनीय मानने पर प्रश्नचिन्ह है, जबकि राजस्थान अकेला राज्य है जहां पहली बार गायों की रक्षा के लिए अलग से मंत्रालय बनाया गया है[21]। यह भी सोचने वाला विषय है कि जब हम चमड़े की बनी चीजों का शौक से इस्तेमाल करते हैं तो हमें किसी निरीह जानवर की हत्या का ख्याल क्यों नहीं आता है। स्पष्ट है कि इन संवेदनशील विषयों का राजनीति में इस्तेमाल होता है। भारत जैसे बहुधर्मी देश में राष्ट्रवाद को किसी विशेष धर्म जाति की सीमा में नहीं बाँधा जा सकता है। स्वाधीन भारत में 59000 किसान आत्महत्याएँ कर चुके हैं। आजाद भारत में सैकड़ों लोग हर दिन भूख से मर जाते हैं[22]। महिलाएँ हिंसा का शिकार हो रही हैं। जाति धर्मों को आधार बनाकर दंगे होते हैं। जहां इस तरह की स्थिति मौजूदा समाज को मानसिक रूप से अति पिछड़ा बना रही है वहीं दूसरी ओर मीडिया टी.आर.पी. की दौड़ में आम आदमी के विषय को हाशिये से भी बाहर करता हुआ नजर आता है। इन परिस्थितियों से समाज को बाहर निकलना नितान्त आवश्यक है। हम सिनेमा हॉल में राष्ट्रगान की

अनिवार्यता से किसी भी व्यक्ति के अन्दर सही मायने में देश के प्रति जिम्मेदारी का भाव नहीं जगा सकते हैं। बल्कि सामाजिक-आर्थिक विषमता को समाप्त करके ही किसी भी नागरिक के मन में राष्ट्र के प्रति प्रेम, सम्मान की भावना का बोध हो सकता है।

आज एक ओर जहां प्रत्येक राष्ट्र को अपनी आन्तरिक समस्याओं को हल करके राष्ट्रीय एकता को मजबूती देना जरूरी है, वहीं दूसरी ओर भूमण्डलीकरण के दौर में हो रहे परिवर्तनों के लिए स्वयं को तैयार करना भी आवश्यक है। इस सन्दर्भ में गांधी जी की यह टिप्पणी अति प्रासंगिक प्रतीत होती है, "मैं नहीं चाहता मेरे घर को चारों ओर से दीवारों से बंद कर दिया जाए और मेरी खिड़कियों को ऊपर तक भर-भरकर बंद कर दिया जाए। मैं चाहता हूं कि सभी स्थानों की संस्कृति की हवा सहज रूप से यथा सम्भव मेरे घर में बह-बहकर आए। पर मैं किसी भी तरह की हवा से इस तरह न बह जाऊँ कि धरती पर मेरे पाँव ही न रहे। मैं अन्य लोगों के घरों में एक घुसपैठिए, एक भिखारी या एक गुलाम बनकर रहना अस्वीकार करता हूँ[23]।

वर्तमान में राष्ट्रवाद के विमर्श पर बाजारवाद इतना हावी है कि खबरों की विश्वसनीयता की परख करने की क्षमता को मध्यमवर्गीय आम नागरिक खो चुका है। मध्यमवर्गीय जनसंख्या सर्वाधिक है इसलिए इस नेरेटिव को समझने की सबसे ज्यादा जिम्मेदारी भी इसी वर्ग की है। खबरों के वास्तविक विश्लेषण से पूर्व ही वे अपना असर कर चुकी होती है। जब कोई राष्ट्र अपने नागरिकों को बेहतर जीवन जीने के लिए मूलभूत सुविधाएं शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार, स्वच्छ वातावरण इत्यादि प्रदान कर अपनी जिम्मेदारी का निर्वहन करेगा तभी एक नागरिक के मन में अपने राष्ट्र के प्रति सच्ची भावना का जन्म होगा। जिससे किसी भी रूप में जबरन थोपने की आवश्यकता नहीं होगी। वे स्वयं ही राष्ट्रवाद की मूल भावना मानवतावाद को अपने जीवन में उतारेंगे।

सन्दर्भ-सूची

1. हरिकृष्ण रावत, उच्चतर समाजशास्त्र विश्वकोष, रावत पब्लिकेशन्स, 2009, पृ. संख्या 321
2. पूर्वोक्त, पृ. सं. 321
3. पूर्वोक्त, पृ. सं. 320
4. प्रतियोगिता दर्पण, जुलाई, 2018, पृ. सं. 91
5. हरिकृष्ण रावत, पूर्वोक्त, पृ. सं. 321
6. प्रतियोगिता दर्पण, पूर्वोक्त, पृ. सं. 93
7. फड़िया, डॉ. बी.एल., भारतीय शासन एवं राजनीति, साहित्य भवन पब्लिकेशन, 2018, पृ. सं. 01

8. Pt. Nehru, Auto Biography, p. 437
9. A.K. Desai, Social Background of Indian Nationalism, p. 210
10. चड्ढा, कुसुमलता गांधी अध्ययन, कनिष्क पब्लिशर्स डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, 2017, पृ. सं. 115
11. पूर्वोक्त, पृ. सं. 117
12. Sharma Radhakrishna, Nationalism Social Reform and Indian Women, Janaki Prakashan, Patna, 1981, p. 59
13. गुप्त, विश्वप्रकाश, गुप्त मोहिनी, आजादी के 50 साल, राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 1997, पृ. सं. 309
14. फड़िया, पूर्वोक्त, पृ. सं. 3
15. nttps://khabar.ndtv.com. India
16. फड़िया, पूर्वोक्त, पृ. सं. 4
17. गुप्त, विश्वप्रकाश, गुप्त, मोहिनी, पूर्वोक्त, पृ. सं. 190
18. इण्डिया टुडे, 22 अगस्त, 2018, पृ. सं. 72
19. मनोज सिन्हा, समकालीन भारत का परिचय, ओरिएन्ट ब्लैक श्वान प्रा.लि. हैदराबाद, 2012, पृ. सं. 302
20. इण्डिया टुडे, 22 अगस्त, 2018, पृ. सं. 92
21. पूर्वोक्त, पृ. सं. 92
22. पूर्वोक्त, पृ. सं. 92
23. हरिजन, 7 जुलाई, पृ. सं. 212

स्त्री भाषा और कृष्णा सोबती का कथा-साहित्य

रजनी कुमारी पांडेय

क्वीयर सिद्धान्त की महत्त्वपूर्ण विदुषी जूडिथ बटलर ने अपनी पुस्तक Gender Trouble : Feminism and the Subversion of Identity में कहा है कि 'जेंडर एक अभिनय है जिसे हर व्यक्ति अपने-अपने तरीके से अभिनीत करता है।' कहना न होगा कि एक रचनाकार इस जेंडर अभिनय को करने में अन्य या साधारण जनों से अधिक दक्ष होता है क्योंकि उसे एक साथ बारी-बारी दोनों जेंडर का अभिनय करना होता है। वह स्त्री पर लिखता है तो स्त्री की तरह है और पुरुष पर लिखता है तो पुरुष की तरह। लेखक का लेखन के अन्तर्गत अपना कोई जेंडर नहीं होता। किन्तु सवाल यह भी है कि कोई लेखक इस अभिनय कला में कितना माहिर है। क्योंकि यदि कोई लेखक इस अभिव्यक्ति के अभिनय में समर्थ नहीं तो उसका अभिनय पाठकों को स्वाभाविक नहीं लग पाएगा और रचनाकार का प्रभाव वहीं खत्म हो जाएगा। दरअसल जेंडर अभिनय का लेखक के जीवनानुभव और प्रतिभा से गहरा सम्बन्ध है।

कृष्णा सोबती हिन्दी की शिल्प सजग, शिल्प समर्थ और भाषिक अभिनय में माहिर कथाकार हैं। भाषिक अभिनय एक रचनाकार के लिए क्या अहमियत रखता है इसे वे समझती हैं। वे कहती हैं—"शब्दों को अर्थों में जीने, भाषा के तेवर समझने-बूझने और संवाद के व्यवहार-संस्कार को जानने की जितनी औकात लेखक में होगी, क्षमता के अंश भी उसी अनुपात में उसके हिस्से में चले आते हैं। इसी के साथ जुड़ी रहती है लेखक की वैचारिक भूमि और उसकी दृष्टि की अथाह निर्ममता जिसके सामने कोई भी अतिरेक बेमानी हो जाता है।"[1]

यानी एक लेखक को लेखन के दौरान सबसे पहले अपना जेंडर त्यागना चाहिए और तब अपना लेखन प्रारम्भ करना चाहिए। कृष्णा सोबती ऐसा ही करती हैं। वे जब 'डार से बिछुड़ी', 'तिन पहाड़', 'मित्रो मरजानी', 'सूरज मुखी अँधेरे के', 'जिन्दगीनामा', 'बादलों के घेरे', 'ऐ लड़की', 'दिलो दानिश', 'समय सरगम', 'जैनी

E-mail : rajanivatsal@gmail.com, मो. 9163805354

मेहरबान सिंह', 'गुजरात पाकिस्तान से गुजरात हिन्दुस्तान' इत्यादि कृतियाँ लिखती हैं तो एक स्त्री होने का अभिनय करती हैं, स्त्री भाषा-शैली, मुहावरे, टोन, भाव-भंगिमा में। और जब वे 'यारों के यार' और 'हम हशमत' जैसी रचनाएँ लिखती हैं तो उनका मिजाज कुछ अलग रंगत लिये हुए होता है।

'यारों के यार' कहानी जब प्रकाश में आई थी तो उसकी भाषा पर काफी बवाल मचा था। गूँ के बालूशाही, माँ के पोदनों, चूतिया, बहनचोद, चुदक्कड़, हगना-मूतना और मोटर में होते गुल्ली-डंडा की अर्थव्यंजना वाली इस भाषा को गहरा विरोध का सामना करना पड़ा था। हिन्दी में ऐसी भाषा का प्रयोग पहली बार हो रहा था, ऐसी बात भी नहीं थी। धूमिल, राजकमल चौधरी ऐसी साहित्यिक भाषा के प्रयोक्ता थे, किन्तु वे पुरुष थे। अतः वह सह्य था किन्तु स्त्री होकर ऐसी भाषा का प्रयोग लोगों को रास न आया। लोगों की आलोचना का जवाब देते हुए कृष्णा सोबती ने लिखा—''जब 'यारों के यार' जैसी गम्भीर कहानी लिखी जाती है तो वह अपनी व्यक्तिगत या सामाजिक नफासतों के प्रदर्शन के लिए नहीं लिखी जाती...'यारों के यार' की भाषा जिस चौखटों से उभरी है, यह उन्हीं दफ्तरों की देन है। एकरसता से उबरने-उबारने के लिए गालियाँ दोहराई जाती हैं। लेख न्यूट्रल था। न इनके हक में न इनके खिलाफ। सिर्फ उसने धर्म शिक्षा की झोंक और नशे में उनका गला नहीं घोंट दिया। गालियाँ भी बोलचाल की जिन्दा जबान का एक महत्त्वपूर्ण अंग हैं।''[2]

'हम हशमत' की भाषा के विषय में कहती हैं—"I wrote under a pen name Hashmat, a male name. I was surprised that besides the texture of my writing, even my handwriting changed when I wrote as Hashmat. The contours of the words that appeared on blank paper were not the same as when they were written by Krishna Sobti." (Written by Ashutosh Bhardwaj/updated : 18 June, 2017)

यह है लेखकीय अभिनय जिसे कृष्णा सोबती अपनी रचनाओं में कुशलता के साथ निभाती हैं। किन्तु कृष्णा सोबती के लेखन में 'यारों के यार' और 'हम हशमत' जैसी रचनाएँ बेहद कम जगह घेरती हैं। उनकी रचनाओं में अधिकांश जगह स्त्री संवेदना केन्द्रित रचनाओं ने ही घेरा है और इन रचनाओं में सोबती स्त्री-भाषा का रचाव करते हुए नजर आती हैं।

कृष्णा सोबती की भाषा और शैली में स्त्री तत्त्व

भाषा का सम्बन्ध भाव से होता है। जैसा भाव वैसी भाषा। कृष्णा सोबती की कथा में अधिकतम जगह स्त्री-कथा ने घेरा है। अतः इन रचनाओं में इनकी भाषा का स्वभाव और संस्कार स्त्रीपन को लिये हुए है। स्त्री कैसे बोलती है, क्या सोचती है, किस तरह वह घर के भीतर राजनीति करती है, उसकी बड़ी विश्वसनीय अभिव्यक्ति

कृष्णा सोबती अपने कथा-साहित्य में करती हैं। कुछ उदाहरण "जिएँ! जागें! सब जिएँ जागें।/अच्छे, बुरे, अपने, पराए—जो भी मेरे कुछ लगते थे सब जिएँ! घड़ी-भर पहले चाहती थी कि कहूँ सब मर-खप जाएँ।/न कोई जिए न जागे। मैं मरूँ तो सबको ले मरूँ/"[3] यह 'डार से बिछुड़ी' की पाशो का कथन है। उपन्यास की शुरुआत ही स्त्री वाक्य से। स्त्री वाक्य इसलिए क्योंकि ऐसी भाषा एक स्त्री ही बोल सकती है। जनम और मरण दोनों का स्त्री के जीवन से गहरा सम्बन्ध है। जीवन को जन्म देने का अधिकार प्रकृति ने स्त्री को दिया है अतः जीवन का मूल्य भी वही सबसे अधिक समझती है। अकारण नहीं कि मृत्यु पर शोक भी सबसे अधिक स्त्री ही मनाती है। यही वजह है कि जनम-मरण जैसे शब्द स्त्री की जुबान पर हर वक्त होते हैं। वह जब भी भावावेश में आती है तो इस शब्दों का इस्तेमाल करती है।

दूसरा उदाहरण देखें—"फूलाँ के मन उबाल तो ऐसा आया कि जिठानी का झोंटा नोच ले पर जाने क्या सोच गम खा गई। धम्म से अपनी चारपाई पर बैठकर कहा—जिसे अपनी इज्जत-पत्त प्यारी हो, वह सीधे-सीधे अपनी राह पकड़े। न मैं किसी से अड़ंगा लगाऊँ न कोई मेरे संग अड़फड़ करो।"[4] घर के भीतर स्त्रियाँ किस तरह सोचती हैं, किस तरह व्यवहार करती हैं, उसकी जीवन्त अभिव्यक्ति 'मित्रो मरजानी' की इस पक्ति में है।

तीसरा उदाहरण—"बाबो ने लड़कियों को गुमसुम देखा तो टिटकारी ली—'कँवारियों-ध्यानियों, अभी से क्या चिन्ता-फिकर! जो आँख वक्त से लड़ेगी वह अल्लाह के फजल से तोड़ भी जा चढ़ेगी।'/पूनी की आधी तार थामे हरबंसो टुकर-टुकर बाबो की ओर देखती चली/'किन सोचो में मेरी लाड़ो, अभी तो खैरों से बौर ही नहीं पड़ा।'/हरबंसो ने हथेलियों में मुँह छिपा लिया।/रसूली ने हँस-हँस मुरकियाँ हिलाई—"बाबो बहनी, हमेशा यह छेड़छाड़ अच्छी नहीं।"[5] यह स्त्री स्वभाव का स्त्री-भाषा में चित्रण 'जिन्दगीनामा' से है। स्त्री के सोच-विचार, हाव-भाव, मनोवृत्ति की इतनी गहराई और यथार्थ के साथ अभिव्यक्ति कोई तब तक नहीं कर सकता, जब तक वह स्वयं उससे जुड़ा हुआ न हो। कृष्णा सोबती इसी समाज से सम्बन्ध रखती हैं, फलतः उनमें भोगे हुए यथार्थ का अनुभव है।

काव्यात्मकता स्त्री तत्त्व है, क्योंकि इसमें सिम्बॉलिक की जगह सीमिऑटिक का प्रयोग अधिक होता है। यहाँ सिम्बॉलिक का अर्थ है। पितृसत्तात्मक भाषा-व्यवस्था का सांकेतिक संसार और सीमिऑटिक का अर्थ है प्राक्-भाषाई रूप जैसे ध्वनियाँ, धुनें, स्फुट शब्द, बच्चों के गले से निकलने वाली आवाजें इत्यादि। फ्रेंच स्त्रीवादियों ने माँ और बच्चे के अभिन्न सम्बन्ध को इसी सीमिऑटिक के दायरे में रखा है। कृष्णा सोबती ने अपने रचनात्मक कर्म की शुरुआत काव्य-लेखन से की थी। किन्तु बहुत जल्द ही उन्हें यह एहसास हो गया कि अपने विचारों की अभिव्यक्ति वे सार्थक रूप से काव्य-विधा में नहीं, गद्य विधा में कर सकती हैं। फलतः उन्होंने गद्य लेखन प्रारम्भ

किया और कथा के क्षेत्र को चुना। किन्तु काव्यात्मकता उनकी मन-मिजाज में समाई हुई थी। उनके लगभग प्रत्येक कथा-कृति में यह काव्यात्मकता विद्यमान है, कहीं कविता के रूप में, कहीं संगीत के रूप में और जहाँ सीधे-सीधे कविता और संगीत रखने का अवसर नहीं वहाँ लयात्कमता इनकी भाषा में विद्यमान रहती है।

उदाहरण देखें : ''पर कौन होती थी मैं अपने दुर्भाग्य से हरी-भरी बेलों को जला देने वाली! कौन होती थी मैं दूध-भरी झोलियों को सुखा देने वाली! कौन होती थी मैं भरी-भराई, लाड़-सनी झोलियों को दहला देने वाली।''[6] 'डार से बिछुड़ी' की यह पूरी भाषा लयात्मक है।

मित्रो मरजानी की पूरी भाषा एक खास तरह की रवानगी लिये हुए है—''महाराज जी, न थाली बाँटते हो...न नींद बाँटते हो, दिल के दुखड़े ही बाँट लो।''[7]

तिन-तिन पहाड़ की भाषा एक खास तरह की रुमानिअत लिये हुए है ''कब जाना था, फिर कभी मिलना नहीं होगा। उन प्रिय आँखों के आगे झुकना नहीं होगा।''[8]

'जिन्दगीनामा' की शुरुआत ही एक लम्बी कविता से होती है। यह कविता जिसे यदि ध्यान से पढ़ा जाए तो इस वृहद उपन्यास का सन्दर्भ सहित सार-रूप है।

'दिलो दानिश' नज्मों, शेरो-शायरी से अटा पड़ा है। एक उदाहरण :

वकील साहब कृपानारायण कहते हैं—''कौन-सा ऐसा सितम है/जो न हम पर हो गया/जो न होना था वह सब कुछ/आज हम पर हो गया।''[9]

लयात्मक भाषा का एक उदाहरण 'समय सरगम' से—

''अरण्या सोचने लगी। क्या तभी कोई आता है जब सशरीर आता है। कभी-कभी खयालों में भी अपने पुराने घर में आगमन हो जाता है।''[10]

जैनी मेहरबान सिंह में भी संगीत है—''हर/दिल/इक/सूरज है।/हर/देह/इक धरती है।''[11]

गुजरात पाकिस्तान से गुजरात हिन्दुस्तान उपन्यास में पूरा-का-पूरा एक दृश्य ही काव्यमय है—''कौन है दूर/कौन है पास/किससे दूर/किससे पास।''[12]

काव्यात्मकता, लयात्मकता, संगीत के ये तत्त्व कृष्णा सोबती की भाषा को स्त्री-भाषा बनाते हैं।

प्रयोगशीलता और अन्वेषण स्त्री-भाषा और शैली का एक अनिवार्य धर्म है। लेखन के क्षेत्र में जब स्त्री उतरती है तो उसके पास परम्परा के नाम पर पुरुष लेखन की पद्धतियाँ होती हैं। उसके पास अपनी परम्परा का इतिहास नहीं होता। अब उसके पास दो ही रास्ते बचते हैं या तो वह पुरुष लेखन की पद्धतियों को स्वीकार करे या फिर अपनी नई राह बनाए। एक सजग स्त्रीवादी रचनाकार अन्वेषण की ओर मुड़ना

ही पसन्द करेगी, इसमें कोई सन्देह नहीं। वह अपने प्रयोग द्वारा जहाँ एक ओर अपनी लेखकीय क्षमता को सिद्ध करती है, वहीं दूसरी ओर पुरुष कथा-संरचना की पद्धतियों को तहस-नहस करने का उपक्रम भी रचती हैं।

यह प्रयोगशीलता कृष्णा सोबती के कथा-साहित्य का भी अनिवार्य धर्म है। उनकी यह प्रयोगशीलता न केवल भाषा के स्तर पर दिखती है, बल्कि कथा-संरचना के स्तर पर भी दिखती है। अपनी पहली कृति 'डार से बिछुड़ी' से लेकर अपनी आखिरी कृति 'गुजरात पाकिस्तान से गुजरात हिन्दुस्तान' तक हर कृति के साथ वे एक नई भाषा लेकर मैदान में उतरती हैं, जहाँ भाषा की शब्दावली ही नहीं भाषा का टोन भी बदला हुआ नजर आता है। इनकी भाषिक प्रयोगशीलता के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

''माँओं के लाल गए। बहनों के वीर गए। सुहागिनों के सिरों की सरदारियाँ गईं और गया राजवालों का राज-पाट। पिछले पक्ख तो घर-घर जवानियाँ सोभती थीं, आज सब कुछ गवाँ-लुटा माँओं की झोलियाँ खाली हो गईं। न बाँहें रहीं, न बाँहों के छनकार।''[13] 'डार से बिछुड़ी' का यह पूरा पैरा बोलचाल की खड़ी बोली में लिखा गया है, जिसमें पंजाबी के एकाध शब्द जैसे वीर, सरदारियाँ, पक्ख, जवानियाँ आदि का प्रयोग है।

''साँझ की उदास-उदास बाँहें अँधियारे से आ लिपटीं। मोहभरी अलसाई आँखें झुक-झुक आईं और हरियाली के बिखरे आँचल में पत्थरों के पहाड़ उभर आए। चौंककर तपन ने बाहर झाँका। परछाईं का-सा सूना स्टेशन, दूर जाती रेल की पटरियाँ और सिर डाले पेड़ों के काले उदास साए।''[14] 'तिन पहाड़' की यह भाषा एक खास तरह की कोमलता और मुलायमिअत लिये हुए है, जिसका टोन 'डोर से बिछुड़ी' की पंजाबी मिश्रित हिन्दी से अलग है।

''घर में सब ठीक-ठिकाने है। भला-चंगा हूँ मैं भी। तनिक दुपहरी सो ही तो लिया...सिरहाना दुहराकर ढासना लिया कि एकाएक मसूड़े की उठती पीर से बेबस हो फिर लेट गए। हाय ओ!...अभी उस दिन तो दूध के दाँत निकले थे और आज एक झटके से उखड़ भी गए।''[15] 'तिन पहाड़' की कोमलकान्त भाषा से अलग 'मित्रो मरजानी' की यह खनकती हुई घर्षण कसी हुई भाषा।

''अचानक मोड़ पर ठिठककर रत्ती ने घड़ी देखी। छः आँखों में खूँखार बेबसी की लपक कौंधी, पर पाँव रुके नहीं।...गले में उठता धुआँ लम्बी साँस से रत्ती ने अन्दर खींच लिया कि किसी काली परछाई ने झपट चेहरे को काला कर दिया।''[16] इस पैरे की भाँति 'सूरजमुखी अँधेरे के' उपन्यास संकेतों, बिम्बों में रचा गया है।

''कुदरतें-खुदावंदी का यकीन दिलाने के लिए मूसा ने बड़े-बड़े मोजजे दिखाए। आसमानों को कैसा बुलन्द और बाआब बनाया। सूरज के जरिए रात और दिन की तारीकी और रोशनी का इन्तजाम किया। सतह जमीन को बिछाकर इस पर पहाड़

कायम किए। आसमान से पानी बरसाया और जमीन में सब्जी उगाया।''[17] यह 'जिन्दगीनामा' की भाषा है जिसमें पंजाबी के शब्दों का भरपूर इस्तेमाल किया गया, जिसके कारण इसकी सम्प्रेषणीयता पर सवाल भी उठाया गया।

''ऐ लड़की, अँधेरा क्यों कर रखा है! बिजली पर कटौती! क्या सचमुच ऐसी नौबत आ गई।

—अम्मी, घर की सारी बत्तियाँ जगी हैं। टेबल लैम्प अलग से। तो क्या मैं ही रोशनी को अँधेरा कहने लगी हूँ! नहीं-नहीं अभी मेरे होश-हवास दुरुस्त हैं। हाँ, तुम्हें अँधेरे में चाँदी के साँप दिखते हों तो बात दूसरी है।''[18] 'ऐ लड़की' की भाषा सीधी-साधी खड़ी बोली में लिखी गई है पर अपने टोन में तेज-तर्रार है। यह भाषा सीधे पाठकों के हृदय और मस्तिष्क को भेदती है।

''हाय अल्लाह! कितनी खूबसूरत! अम्मी, देखिए तो नए लिहाफ हैं! मुंशीजी ने बन्दगी की तो बेगम साहिबा ने एक नजर-भर देखा और भीगी बयार की तरह हँसकर कहा—मुन्शीजी इन्हें इतना तो समझाइए कि सवालों की इतनी भरमार क्यों? कुछ नजर से भी देखा-समझा जाता होगा।...मुन्शीजी ने एक झुकी-झुकी चिराग नजर बेगम साहिबा पर डाली।''[19] यह 'दिलो दानिश' की भाषा है, जिसमें हिन्दी के साथ उर्दू के चलते-फिरते शब्दों का प्रयोग है। इसकी भाषा में एक खास तरह का सूफियानापन है।

कहना न होगा कि भाषा के इतने तेवर, इतने रंग, इतने रूप हिन्दी में बहुत कम लेखकों के यहाँ मिलेंगे। यह भाषाई वैविध्य जहाँ उनकी प्रयोगशील मनोवृत्ति का परिचायक है वहीं उनकी भाषाई समर्थता का सूचक भी है।

कथा की संरचना में भी कृष्णा सोबती ने अनेकानेक प्रयोग किए। कथा के क्षेत्र में वे एक ओर जहाँ 'डरो मत, मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा' जैसी बेहद छोटी कहानी लिखती हैं तो 'बादलों के घेरे' और 'दादी अम्मा' जैसी मँझोली दर्जे की कहानी भी। 'पहाड़ों के साये तले' कहानी पूरी तरह पत्र शैली में लिखी गई है। 'मित्रो मरजानी' लम्बी कहानी है। 'ऐ लड़की' लम्बी कहानी है और संवाद शैली में लिखी गई है। इस तरह इन्होंने कहानियों के क्षेत्र में अनेक तरह के प्रयोग किए और किसी एक ढाँचे को अपना प्रतिनिधि ढाँचा नहीं बनाया।

उपन्यास के क्षेत्र में भी उन्होंने कई प्रयोग किए हैं। वे एक ओर जहाँ 'जिन्दगीनामा', 'दिलो दानिश', 'गुजरात पाकिस्तान से गुजरात हिन्दुस्तान' जैसे वृहद उपन्यास लिखती हैं तो दूसरी ओर 'डार से बिछुड़ी' और 'सूरजमुखी अँधेरे के' जैसे लघु उपन्यास भी। उन्होंने 'जैनी मेहरबान सिंह' नाम से पटकथा लेखन भी किया। इन उपन्यासों की आन्तरिक संरचना में भी कई प्रयोग देखने को मिलते हैं। जैसे—'सूरजमुखी अँधेरे के' उपन्यास की कथा तीन भागों में बँटी हुई है—पुल सुरंगें और आकाश। कथा रत्तिका नामक युवती के भटकावमय जीवन की है। कथा का शिल्प क्रमहीन रूप में है। जो कथा का अन्त होना चाहिए, वहीं कथा की शुरुआत है, आरम्भ कथा का मध्य

भाग बनता है और मध्य भाग कथा का अन्त। जिस तरह रत्तिका के जीवन में भटकाव का कोई अन्त नहीं है कथा का भी अन्त नहीं है। यहाँ 'अन्त ही आरम्भ' है। 'जिन्दगीनामा' कृष्णा सोबती का वृहदतम उपन्यास है। नाम से ही स्पष्ट है कि इस उपन्यास की कथा वस्तु जिन्दगी है अतः वह लघु हो भी नहीं सकती। यहाँ किसी तरह अध्यायों का विभाजन नहीं। केवल दृश्य बदलता है और कथा क्रमवार रूप से आगे बढ़ती चली जाती है। 'दिलो दानिश' की कथा अध्यायों में बँटी हुई है। यहाँ नैरेटर की भूमिका में लेखिका भी है और पात्र भी। लेखिका पाठक को कथा कहती हैं और पात्र भी पाठक से अपनी कथा सुनाता है। उपन्यास के सभी महत्त्वपूर्ण पात्र नैरेटर की भूमिका में आकर कथा को आगे बढ़ाते हैं। 'गुजरात पाकिस्तान से गुजरात हिन्दुस्तान' का शिल्प बेहद गझीन बुनावट लिये हुए है। लेखिका यहाँ एक साथ अतीत और वर्तमान, व्यक्ति और समाज की मनोव्यथाओं को उजागर करती हैं। यहाँ जितना वर्तमान महत्त्वपूर्ण है उससे कहीं ज्यादा अतीत। कथा क्रमवार आगे की तरफ ही बढ़ती है बावजूद इसके स्मृतियों की फ्लैश बैक पद्धति में क्रमबद्धता नहीं, क्रमहीनता है। फिर भी वे कथा के आरोपित नहीं, सहज अंग बनकर आते हैं। यहाँ किसी भी नई बात की शुरुआत वे बोल्ड अक्षरों से करती हैं।

आत्मकथा शैली विमर्शों की लेखन शैली है। कृष्णा सोबती ने भी आत्मकथा शैली अपनाई। लेकिन यहाँ भी उनका ढंग निराला है। विमर्शवाले रचनाकार जहाँ अपनी आत्मकथा को प्रामाणिक बताते हुए उसे कथा या उपन्यास मानने से इनकार करते हैं, वहीं कृष्णा सोबती अपनी आत्मकथा को कहानी और उपन्यास बनाकर पेश करती हैं। बकौल कृष्णा सोबती 'सिक्का बदल गया' कहानी उनकी नानी के बारे में है। 'जिन्दगीनामा' के शाहजी, शाहनी तथा वह ग्रामीण परिवेश 'सिक्का बदल गया' कहानी का ही औपन्यासिक रूप है। 'ऐ लड़की' कहानी की वृद्धा माँ और कोई नहीं स्वयं लेखिका की माँ हैं और इस तथ्य को भी लेखिका ने अपने साक्षात्कारों में स्वीकारा। 'समय-सरगम' उपन्यास की पात्र अरण्या और कृष्णा सोबती का व्यक्तित्व बहुत कुछ मिलता-जुलता है। यह तथ्य उनके साक्षात्कारों से पुष्ट है। और आखिर में कृष्णा सोबती का नवीनतम उपन्यास 'गुजरात पाकिस्तान से गुजरात हिन्दुस्तान' पूरी तरह आत्मकथा है जिसे उन्होंने उपन्यास की शैली में लिखा है। हिन्दी में आत्मकथात्मक रचनाएँ तीन तरह से लिखी जाती रहीं—पहला तरीका वह जहाँ लेखक अपने जीवन से कथा-वस्तु को लेता है और थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ, पात्रों का नाम बदलकर उपन्यास या कहानी लिख देता है जैसे अज्ञेय का 'शेखर : एक जीवनी' या प्रभा खेतान का उपन्यास 'छिन्नमस्ता'। (कृष्णा सोबती ने भी 'सिक्का बदल गया' और 'ऐ लड़की' की रचना इसी प्रकार की।) दूसरी तरीका वह है जहाँ लेखक विशुद्ध आत्मकथा लिखने का दावा पेश करता है वहाँ कल्पना का मिश्रण कर देता है। दलित रचनाकारों की रचनाएँ इसी कोटि में आती हैं। इन दोनों से भिन्न 'गुजरात पाकिस्तान

से गुजरात हिन्दुस्तान' में कृष्णा सोबती ने न पात्रों के नाम बदले, न कल्पना का मिश्रण किया और अपने जीवन की वास्तविक कथा को उपन्यास शैली में लिख दिया।

कृष्णा सोबती के पास अपनी बात को कहने का एक अपना ढंग है, जहाँ वे साधारण शब्दों के द्वारा साधारण वाक्यों में असाधारण और बिल्कुल नई बात कहती हैं। इस अन्दाज-ए-बयाँ के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—''जवान बेटे की जवान खीझ से बनवारी लाल पहले चुपचाप बाबू की ओर देखता रहा।''[20] (मित्रो मरजानी)

''वह खुद सिर्फ है। उसका तीखापन, कड़वापन सब मर गए हैं। वह फीकी है। एक फीकी औरत! एक लड़की, जो कभी लड़की नहीं थी। एक औरत जो कभी औरत नहीं थी।''[21] (सूरजमुखी अँधेरे के)

''महक ने अपने बच्चों के बाप को चूमकर कहा।''[22] (दिलो दानिश)

''उसने देने वाले का शुक्रिया अदा किया और मन-ही-मन अलविदा कहा और आँखों से बाराखम्भा लेन की नजदीकी को जैसे हमेशा के लिए पोंछ लिया।''[23] (गुजरात पाकिस्तान से गुजरात हिन्दुस्तान) उस जगह पर दुबारा नहीं आने की अभिव्यक्ति इस तरह है।

किसी साधारण-सी बात को असाधारण तरीके से आ कहें तो बने-बनाए ढाँचे में न कहकर अलग तरह से कहना (बना-बनाया ढाँचा पितृसत्तात्मक है) स्त्री-शैली की एक खास विशेषता है। कृष्णा सोबती के साहित्य में स्त्री-शैली की यह विशेषता विद्यमान है।

स्त्री जब भी बोलती है तो सीधे-सीधे नहीं, वक्र भाषा में, क्योंकि सीधे-सीधे बोलने में उसे अपने समक्ष कई बन्दिशें खड़ी नजर आती हैं। जुबान ही उसका एक मात्र हथियार होता है, जिसका वह अचूक इस्तेमाल करना चाहती है। यही वजह है कि वह जब बोलती है तो मुहावरे उसकी भाषा के अनिवार्य अंग बन जाते हैं। मुहावरेदानी कृष्णा सोबती की भाषा का भी एक प्रधान लक्षण है। इनके कथा-साहित्य से कुछ उदाहरण—

''धनवन्ती ने बाहर जा मँझली बहू की दहलीज पर से झाँका तो फटे दूध-सी फटक गई।''[24]

''जब तक मेरी फूलावन्ती को फूल नहीं पड़ता तब तक क्यों न देवर गुलजारी ही गुल खिलाए।''[25]

कृष्णा सोबती ने अपनी भाषा में बिम्बों का बहुतायत प्रयोग किया और वह भी बिल्कुल नए-नए रूपों में। हालाँकि उनके इस प्रयोग में जिस प्रयोग की चर्चा महत्त्वपूर्ण है वह है उसका 'स्त्रीपन'। कृष्णा सोबती जब बिम्बों का सृजन करती हैं तो उनके समक्ष स्त्री होती है। यही वजह है कि उसके जीवन से जुड़े तत्त्व, वस्तुएँ उनकी भाषा में बिम्ब रूप में आते हैं। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

''सूरज के उगते ही डूँगरों पर लहराने लगी धूप की उजली ओढ़नियाँ।''[26]

''रत्ती ने बालों पर हाथ फिराया तो नींद में तिरती आँखों की हँसी देखकर ऐसा लाड़ उमड़ा कि दूध की बूँद उमड़ी हो।''[27]

कृष्णा सोबती अपने बिम्ब-सृजन में आँखों और छाती का प्रयोग बार-बार करती हैं। कहना न होगा कि इन दोनों अंगों का स्त्री के जीवन से गहरा सम्बन्ध है।

''धनवन्ती ने बिना कुछ कहे बहू के मुँह पर से आँखें लौटा लीं।'[28]

''समित्रावन्ती ने त्यौरियाँ चढ़ा अपनी दनदनाती आँखों से धनवन्ती को घूरा और कड़ाही में उबलते दूध पर पानी का छींटा दे मारा।''[29]

''मुन्शीजी ने एक झुकी-झुकी चिराग नजर बेगम साहिबा पर डाली।''[30]

''लाहौर की खामोश तमन्ना राँवी को निहारने लगी।''[31]

''छाती तले छोटी-छोटी भूसी की आग जलती हो जैसे।''[32]

''कमर की सरसराहट में तूफान-सा मचला और छाती पर काँटों की बाढ़ उग आई।''[33]

बिम्बों का यह स्त्रीपन कृष्णा सोबती की भाषा को स्त्री-भाषा बनाता है।

फ्रेंच फेमिनिस्ट लूस इरिगरे ने स्त्री की यौन तन्त्रियों को बहुकेन्द्रीय माना और कहा कि स्त्री अपने शरीर के लगभग प्रत्येक हिस्से से यौनानन्द की अनुभूति प्राप्त करती है। कहना न होगा कि स्त्री शरीर में अनुभूति का यह आधिक्य उसकी भाषा को भी अनुभूति प्रधान बनाता है। यही वजह है कि अनुभूति को स्त्री-भाषा का एक प्रधान लक्षण माना गया। अनुभूति की प्रधानता कृष्णा सोबती की भाषा का भी एक प्रधान लक्षण है। वे किसी वस्तु या घटना के विवरण में जाना पसन्द नहीं करतीं, उसे अनुभूत कराने में आस्था रखती हैं : उनकी रचनाओं से अनुभूतिपरक बिम्बों का उदाहरण :

''सुहाग के बदन सूइयाँ चुभने लगीं।''[34]

''बदन के अन्दर पसरे गुंजल किसी अनजाने जोर से खींचते-धकियाते और घायल परिन्दे की तरह फड़फड़ाते।''[35]

''ये बोल मँझली के तन-बदल को लहरा गए।''[36]

कृष्णा सोबती की भाषा की यह अनुभूतिपरकता, उनकी भाषा को स्त्री भाषा बनाती है।

इस प्रकार कृष्णा सोबती के कथा-साहित्य की भाषा में आए स्त्रीवादी भाव, भंगिमा, टोन, काव्यात्मकता, भाषा और कथा संरचना की प्रयोगशीलता, कहन की अनोखी शैली, आत्मकथा शैली, मुहावरेदानी, स्त्रीधर्मी बिम्ब और अनुभूतिप्रवणता आदि तत्त्व उनकी भाषा को स्त्री-भाषा की कोटि में खड़ा करते हैं। भाषा के ये गुण यदि किसी पुरुष रचनाकार में मिलते हैं तो उसकी भाषा भी स्त्री-भाषा कहलाने की अधिकारी होती है। दरअसल यह बहुत सम्भव है कि कोई रचनाकार स्त्रीवादी होने का दावा करता हो और उसकी भाषा इन स्त्री तत्त्वों से लैस न हो, ऐसे में उसकी भाषा

स्त्री-भाषा कहलाने की अधिकारी नहीं। और बहुत बार ऐसा होता है कि कोई लेखक अपने को स्त्रीवादी होने का दावा नहीं करता है पर उसकी भाषा स्त्री तत्त्वों से लैस हो। हमारी कृष्णा सोबती इसी श्रेणी में आती हैं। ये स्त्रीवादी होने का दावा नहीं करतीं किन्तु इनकी भाषा स्त्रीवादी तत्त्वों से लैस है। हालाँकि कृष्णा सोबती का भाषाई दायरा स्त्री-भाषा तक सिमटा हुआ नहीं है। वे भाषा के अभिनय में माहिर कलाकार हैं जो स्त्री बनकर स्त्री-भाषा को उसी कुशलता से रचती हैं जिस कुशलता से पुरुष बनकर पुरुष की भाषा। 'यारों के यार' और 'हम हशमत' उनकी भाषायी अभिनय समर्थता की पहचान हैं। अतः कह कहते हैं कि स्त्री-भाषा कृष्णा सोबती की भाषाई पहचान अवश्य है किन्तु उनकी भाषाई सीमा नहीं।

सन्दर्भ

1. मेहेर, छबिल कुमार, 'कृष्णा सोबती : एक मूल्यांकन', सामयिक बुक्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण : 2016, पृ. सं—31।
2. वही, पृ. सं.—54।
3. सोबती, कृष्णा, 'डार से बिछुड़ी', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पटना पहली आवृत्ति : 2008, पृ. सं.—15।
4. सोबती, कृष्णा, 'मित्रो मरजानी', राजकमल प्रकाशन (पेपरबैक्स), नई दिल्ली, नौवाँ संस्करण : 2016, पृ. सं.—28।
5. सोबती, कृष्णा, 'जिन्दगीनामा', राजकमल प्रकाशन (पेपरबैक्स), नई दिल्ली, तीसरी आवृत्ति : 2009, पृ. सं.—35।
6. सोबती, कृष्णा, 'डार से बिछुड़ी', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पटना, पहली आवृत्ति : 2008, पृ. सं.—15।
7. सोबती, कृष्णा, 'मित्रो मरजानी', राजकमल प्रकाशन (पेपरबैक्स), नई दिल्ली, नौवाँ संस्करण : 2016, पृ. सं.—48।
8. सोबती, कृष्णा, 'तिन पहाड़', राजकमल प्रकाशन (पेपरबैक्स), नई दिल्ली, संस्करण : 2014, पृ. सं.—8।
9. सोबती, कृष्णा, 'दिलो दानिश', राजकमल प्रकाशन (पेपरबैक्स), नई दिल्ली, दूसरी आवृत्ति : 2010, पृ सं.—27।
10. सोबती, कृष्णा, 'समय सरगम', राजकमल प्रकाशन (पेपरबैक्स), नई दिल्ली, पहली आवृत्ति : 2012, पृ. सं.—24।
11. सोबती, कृष्णा, 'जैनी मेहरबान सिंह', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पटना, इलाहाबाद, पहली आवृत्ति : 2009, पृ. सं.—47।
12. सोबती, कृष्णा, 'गुजरात पाकिस्तान से गुजरात हिन्दुस्तान', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण : 2017, पृ. सं.—19।

13. सोबती, कृष्णा, 'डार से बिछुड़ी', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पटना, पहली आवृत्ति : 2008, पृ. सं.—114।
14. सोबती, कृष्णा, 'तिन पहाड़', राजकमल प्रकाशन, (पेपरबैक्स), नई दिल्ली, संस्करण : 2014, पृ. सं.—7।
15. सोबती, कृष्णा, मित्रो मरजानी', राजकमल प्रकाशन (पेपरबैक्स), नई दिल्ली, नौवाँ संस्करण : 2016, पृ. सं.—7।
16. सोबती, कृष्णा, 'सूरजमुखी अँधेरे के', राजकमल प्रकाशन (पेपरबैक्स), नई दिल्ली, पहली आवृत्ति : 2012, पृ. सं.—7।
17. सोबती, कृष्णा, 'जिन्दगीनामा', राजकमल प्रकाशन (पेपरबैक्स), नई दिल्ली, तीसरी आवृत्ति : 2009, पृ. सं.—57।
18. सोबती, कृष्णा, 'ऐ लड़की', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पटना, इलाहाबाद, संस्करण : 2008, पृ. सं.—7।
19. सोबती, कृष्णा, 'दिलो दानिश', राजकमल प्रकाशन (पेपरबैक्स), नई दिल्ली, दूसरी आवृत्ति : 2010, पृ. सं.—10।
20. सोबती, कृष्णा, 'मित्रो मरजानी', राजकमल प्रकाशन (पेपरबैक्स), नई दिल्ली, नौवाँ संस्करण : 2016, पृ. सं.—33।
21. सोबती, कृष्णा, 'सूरजमुखी अँधेरे के', राजकमल प्रकाशन (पेपरबैक्स), नई दिल्ली, पहली आवृत्ति : 2012, पृ. सं.—9।
22. सोबती, कृष्णा, 'दिलो दानिश', राजकमल प्रकाशन (पेपरबैक्स), नई दिल्ली, दूसरी आवृत्ति : 2010, पृ. सं.—16।
23. सोबती, कृष्णा, 'गुजरात पाकिस्तान से गुजरात हिन्दुस्तान', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण : 2017, पृ. सं.—11।
24. सोबती, कृष्णा, 'मित्रो मरजानी', राजकमल प्रकाशन (पेपरबैक्स), नई दिल्ली, नौवाँ संस्करण : 2016, पृ. सं.—11।
25. वही, पृ. सं.—44।
26. सोबती, कृष्णा, 'गुजरात पाकिस्तान से गुजरात हिन्दुस्तान', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण : 2017, पृ. सं.—31।
27. सोबती, कृष्णा, 'सूरजमुखी अँधेरे के', राजकमल प्रकाशन (पेपरबैक्स), नई दिल्ली, पहली आवृत्ति : 2012, पृ. सं.—25।
28. सोबती, कृष्णा, 'मित्रो मरजानी', राजकमल प्रकाशन (पेपरबैक्स), नई दिल्ली, नौवाँ संस्करण : 2016, पृ. सं.—10।
29. वही, पृ. सं.—65।
30. सोबती, कृष्णा, 'दिलो दानिश', राजकमल प्रकाशन (पेपरबैक्स), नई दिल्ली, दूसरी आवृत्ति : 2010, पृ. सं.—10।

31. सोबती, कृष्णा, 'गुजरात पाकिस्तान से गुजरात हिन्दुस्तान', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण : 2017, पृ. सं.—42।
32. सोबती, कृष्णा, 'दिलो दानिश', राजकमल प्रकाशन (पेपरबैक्स), नई दिल्ली, दूसरी आवृत्ति : 2010, पृ. सं.—144।
33. सोबती, कृष्णा, 'सूरजमुखी अँधेरे के', राजकमल प्रकाशन (पेपरबैक्स), नई दिल्ली, पहली आवृत्ति : 2012, पृ. सं.—9।
34. सोबती, कृष्णा, 'मित्रो मरजानी', राजकमल प्रकाशन (पेपरबैक्स), नई दिल्ली, नौवाँ संस्करण : 2016, पृ. सं.—18।
35. सोबती, कृष्णा, 'दिलो दानिश', राजकमल प्रकाशन (पेपरबैक्स), नई दिल्ली, दूसरी आवृत्ति : 2010, पृ. सं.—144।
36. सोबती, कृष्णा, 'गुजरात पाकिस्तान से गुजरात हिन्दुस्तान', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण : 2017, पृ. सं.—9।

मुगल साम्राज्यवाद को चुनौती देने वाला उत्तर-पूर्व का वीरयोद्धा : लाचित बरफूकन

डॉ. रसाल सिंह

भारतवर्ष का इतिहास लाचित बरफूकन जैसे भारत के वीर सपूतों के शौर्य और वीरता का महाख्यान है। कोने-कोने से आने वाली इसके वीर सूपतों की अनेक गाथाएँ, अपनी मातृभूमि के प्रति इन वीरों की निष्ठा, त्याग और समर्पण की अनेक अल्कपनीय कहानी प्रस्तुत करती हैं। ऐसी की एक अद्‌भुत और अकल्पनीय कहानी है—लाचित बरफूकन की। मुगल आक्रान्ताओं से उत्तर-पूर्व भारत की पवित्र भूमि की रक्षा करने वाले वीरयोद्धा लाचित बरफूकन का जीवन और व्यक्तित्व शौर्य, साहस, स्वाभिमान, समर्पण और राष्ट्रभक्ति का पर्याय है। उन्होंन हिन्दू अस्मिता और राष्ट्रीय स्वाभिमान की रक्षा हेतु सर्वस्व समर्पित करते हुए असाधारण वीरता और आधुनिक रणकौशल का परिचय दिया। प्रसिद्ध इतिहासकार सूर्यकुमार भूयान ने उनकी मौलिक रणनीति और वीरता के कारण उन्हें उत्तर-पूर्व भारत का 'शिवाजी' माना है। वास्तव में, लाचित बरफूकन ने उत्तर-पूर्व भारत में वही स्वातन्त्र्य-ज्वाला जलाई जो मुगल आक्रान्ताओं के विरुद्ध दक्षिण भारत में छत्रपति शिवाजी महाराज ने, पंजाब में गुरु गोविन्द सिंह ने और राजपूताना में महाराणा प्रताप ने जलाई थी। इसी तथ्य को रेखांकित करते हुए पूर्व राज्यपाल श्री श्रीनिवास कुमार सिन्हा ने अपनी पुस्तक 'मिशन असम' में लिखा है—''महाराष्ट्र और असम हमारे विशाल और महान देश के दो विपरीत छोर पर हो सकते हैं लेकिन वे एक सामान्य इतिहास, एक साझी विरासत और एक सामान्य भावना से एकजुट होते हैं। मध्ययुगीन काल में उन्होंने दो महान सैन्य नेताओं, महाराष्ट्र में छत्रपति शिवाजी और असम में लाचित बरफूकन को जन्म दिया है।''

प्राध्यापक, किरोड़ीमल कॉलेज, दिल्ली, सदस्य, विद्वत परिषद्, दिल्ली विश्वविद्यालय, केन्द्र प्रमुख, उत्तर-पूर्व केन्द्र, दिल्ली। मो. 8800886847

भारत में इस वीर योद्धा की स्मृति को नमन करते हुए प्रतिवर्ष 24 नवम्बर को 'लाचित दिवस' के रूप में मनाया जाता है। लाचित बरफूकन का जन्म 24 नवम्बर, 1622 ई. को अहोम साम्राज्य के एक अधिकारी सेंग कालुक-मो-साई और माता कुन्दी मराम के घर में चराइदेऊ नामक स्थान पर हुआ था। उनका पूरा नाम 'चाउ लाचित फुकनलुंग' था। उन्होंने सैन्य कौशल के साथ-साथ मानविकी तथा शास्त्र का भी अध्ययन किया था। वे परमवीर और राजा के अत्यन्त विश्वासपात्र थे, अतः लाचित को अहोम साम्राज्य के राजा चक्रध्वज सिंह की शाही घुड़साल के अधीक्षक और महत्त्वपूर्ण सिमलूगढ़ किले के प्रमुख के रूप में नियुक्त किया गया। बचपन से ही अत्यन्त बहादुर और समझदार लाचित जल्द ही अहोम साम्राज्य के सेनापति बन गए। 'बरफूकन' लाचित का नाम नहीं, बल्कि उनकी पदवी थी। उत्तर-पूर्व भारत के राजनीतिक इतिहास का अनुशीलन करने पर यह ज्ञात होता है कि उत्तर-पूर्व भारत के हिन्दू साम्राज्य—अहोम की सेना की संरचना बहुत ही व्यवस्थित थी। एक देका दस सैनिकों का, बोरा बीस सैनिकों का, सेंकिया सौ सैनिकों का, हजारिका एक हजार सैनिकों का और राजखोवा तीन हजार सैनिकों का जत्था होता था। इस प्रकार बरफूकन छः हजार सैनिकों का संचालन करता था। लाचित बरफूकन इन सभी का प्रमुख था। बरफूकन बनने के बाद लाचित के सामने बहुत-सी चुनौतियाँ थीं।

उसके सामने एक तरफ मुगलों की विशाल और संगठित सेना थी, जिसका संचालन करने वाले शाइस्ता खान और दिलेर खान जैसे अनुभवी सेनापति थे। दूसरी तरफ अहोम साम्राज्य की निराश और विखंडित सेना थी। प्रथम चार वर्षों में लाचित बरफूकन ने अपना पूरा ध्यान अहोम सेना के नव-संगठन और अस्त्र-शस्त्रों को इकट्ठा करने में लगाया। इसके लिए उन्होंने नए सैनिकों की भर्ती की, जल सेना के लिए नौकाओं का निर्माण कराया, हथियारों की आपूर्ति, तोपों का निर्माण और किलों के लिए मजबूत रक्षा प्रबन्धन इत्यादि का दायित्व अपने ऊपर लिया। उन्होंने यह सब इतनी चतुराई और समझदारी से किया कि इन सब तैयारियों की मुगलों को भनक तक नहीं लगने दी। लाचित बरफूकन की चतुराई के कारण कूटनीतिक तरीके से मुगलों के साथ में दोस्ती का दिखावा भी चलता रहा। ये लाचित की राजनीतिक सूझ-बूझ एवं दूरदर्शिता का उत्तम उदाहरण था।

लाचित की युद्ध-कला एवं दूरदर्शिता का दिग्दर्शन मात्र अन्तिम युद्ध में ही नहीं हुआ अपितु उन्होंने सन् 1667 ई. में गोहाटी के ईटाकुली किले को मुगलों से स्वतन्त्र कराने में भी कुशल युद्धनीति का परिचय दिया है। मुगलों ने फिरोज खान को फौजदार नियुक्त किया, जो बहुत ही भोग-विलासी व्यक्ति था। उसने चक्रध्वज सिंघा को सीधे-सीधे असमिया हिन्दू कन्याओं को भोग-विलास के लिए अपने पास भेजने का आदेश दिया। इससे लोगों में मुगलों के खिलाफ आक्रोश बढ़ने लगा। लाचित ने लोगों के इस आक्रोश का सही प्रयोग हुए उसी समय गोहाटी के किले को मुगलों से छीनने

का निर्णय लिया। लाचित बरफूकन के पास एक शक्तिशाली और निपुण जल सेना के साथ समर्पित और दक्ष जासूसों का संजाल था। लाचित बरफूकन ने योजना बनाई, जिसके अनुसार दस-बारह सिपाहियों ने रात के अँधेरे का फायदा उठाते हुए चुपके से किले में प्रवेश कर लिया और मुगल सेना की तोपों में पानी डाल दिया। अगली सुबह ही लाचित ने इटाकुली किले पर आक्रमण कर उसे जीत लिया।

जब मुगल सम्राट औरंगजेब को इस विजय के बारे में पता चला तब वह गुस्से से तिलमिला उठा। उसने मिर्जा राजा जयसिंह के बेटे रामसिंह को 70,000 सैनिकों की बड़ी सेना के साथ अहोम से लड़ने के लिए असम भेजा। रोचक बात यह है कि रामसिंह के साथ सिखों के नौवें गुरु तेग बहादुर भी असम आए थे, किन्तु उन्होंने राष्ट्रहित को सर्वोपरि रखते हुए लाचित के विरुद्ध होने वाले इस युद्ध में भाग नहीं लिया। उधर लाचित ने बिना एक पल व्यर्थ किए किलों की सुरक्षा मजबूत करने के लिए सभी आवश्यक तैयारियाँ प्रारम्भ कर दीं। लाचित ने अपनी मौलिक युद्धनीति के तहत रातों-रात अपनी सेना की सुरक्षा हेतु मिट्टी से दृढ़ तटबन्धों का निर्माण कराया। जिसका उत्तरदायित्व लाचित ने अपने मामा को दिया था। उन्होंने इस निर्माण-कार्य में अपने मामा की लापरवाही को अक्षम्य मानकर उनका वध कर दिया और कहा कि—"मेरे मामा मेरी मातृभूमि से बढ़कर नहीं हो सकते।" उन्होंने भातृभूमि और देशवासियों के स्वाभिमान और हित को अपने सगे-सम्बन्धियों से सदैव ऊपर रखा।

लाचित बरफूकन जैसे योद्धा के रहते मुगल आक्रान्ता भारत के उत्तर-पूर्व क्षेत्र को अपने अधीन नहीं कर सके। लाचित ने शक्तिशाली मुगलों से न सिर्फ टक्कर ली, बल्कि उन्हें परास्त करके उनके अभिमान और अभियान को तहस-नहस करते हुए उत्तर-पूर्व विजय के उनके अरमान को सदा के लिए चकनाचूर कर दिया। 1671 ई. में सरायघाट, ब्रह्मपुत्र नदी में अहोम सेना और मुगलों के बीच ऐतिहासिक लड़ाई हुई। रामसिंह को अपने गुप्तचरों से पता चला कि अन्दुराबली के किनारे पर रक्षा इन्तजामों को भेदा जा सकता है और गोहाटी को फिर से हथियाया जा सकता है। उसने इस अवसर का फायदा उठाने के उद्देश्य से मुगल नौसेना खड़ी कर दी। उसके पास चालीस जहाज थे जो सोलह तोपों और छोटी नौकाओं को ले जाने में समर्थ थे। यह युद्ध उस यात्रा का चरमोत्कर्ष था जो यात्रा आठ वर्ष पहले मीर जुमला के आक्रमण से आरम्भ हुई थी भारतवर्ष के इतिहास में कदाचित् यह पहला महत्त्वपूर्ण युद्ध था जो पूर्णतया नदी में लड़ा गया था जिसमें लाचित ने पानी में लड़ाई (नौसैनिक युद्ध) की सर्वथा नई तकनीक आजमाते हुए मुगलों को पराजित किया। ब्रह्मपुत्र नदी का सरायघाट इस ऐतिहासिक युद्ध का साक्षी बना। इस युद्ध में ब्रह्मपुत्र नदी में एक प्रकार का त्रिभुज बन गया था जिसमें एक ओर कामाख्या मन्दिर, दूसरी ओर अश्वक्लान्ता का विष्णु मन्दिर और तीसरी ओर इटाकुली किले की दीवारें थीं। यह भीषण युद्ध जलस्थिति इसी त्रिभुजाकार सेना-संरचना में लड़ा गया। दुर्भाग्यवश लाचित इस समय

इतने अस्वस्थ हो गए कि उनका चलना-फिरना भी अत्यन्त कठिन हो गया था परन्तु लाचित ने बीमार होते हुए भी भीषण युद्ध किया और अपनी असाधारण नेतृत्व क्षमता और अदम्य साहस से सरायघाट की प्रसिद्ध लड़ाई में लगभग 4000 मुगल सैनिकों को मार गिराया।

इस निर्णायक युद्ध में अहोम सेना ने महान योद्धा लाचित बरफूकन के नेतृत्व मे अपने वर्षों के युद्धाभ्यास से अर्जित रणकौशल का अद्‌भुत प्रदर्शन किया। इस युद्ध में अहोम सेना ने अनेक आधुनिक युक्तियों का उपयोग किया। यथा—पनगढ़ बनाने की युक्ति। युद्ध के दौरान ही बनाया गया नौका-पुल छोटे किले की तरह काम आया। अहोम की बच्छारिना (जो अपने आकार में मुगलों की नाव से छोटी थी) अत्यन्त तीव्र और घातक सिद्ध हुई। इन सभी आधुनिक युक्तियों ने लाचित बरफूकन की अहोम सेना को मुगल सेना से अधिक सबल और प्रभावी बना दिया। दो दिशाओं से हुए प्रहार से मुगल सेना में हड़कम्प मच गया और सायंकाल तक उसके तीन अमीर और चार हजार सैनिक मारे गए। इसके बाद मुगल सेना पूरी तरह तबाह होकर मानस नदी के पार भाग खड़ी गई। दुर्भाग्यवश इस युद्ध में घायल लाचित बरफूकन ने कुछ दिन बाद प्राण त्याग दिए। इस प्रकार उन्होंने अपने भौगोलिक-मानविकी ज्ञान और गुरिल्ला युद्ध की बारीक रणनीतियों का प्रयोग करते हुए सर्वप्रथम मुगल सेना की शक्ति का सटीक आकलन किया और फिर ब्रह्मपुत्र नदी के तट पर भीषण नौसैनिक युद्ध में उन्हें हरा दिया।

वीर सपूत लाचित बरफूकन के नेतृत्व में अहोम सेना द्वारा अर्जित की गई सरायघाट की इस अभूतपूर्व विजय ने असम के आर्थिक विकास और सांस्कृतिक समृद्धि की आधारशिला रखी। आगे चलकर असम में अनेक भव्य मन्दिरों आदि का निर्माण हुआ। यदि सरायघाट के युद्ध में मुगलों की विजय होती, तो वह असमवासी हिन्दुओं के लिए सांस्कृतिक विनाश और पराधीनता लेकर आती। लेकिन लाचित बरफूकन जैसे भारत माँ के वीर सपूत के अदम्य साहस और असाधारण नेतृत्व क्षमता के कारण ही मुगल साम्राज्य के दुष्प्रभाव से अहोम साम्राज्य बच सका। मरणोपरान्त भी लाचित असम के लोगों और अहोम सेना के हृदय में अग्नि की ज्वाला बनकर धधकते रहे और उनके प्राणों का बलिदान व्यर्थ नहीं गया। लाचित बरफूकन द्वारा संगठित सेना ने सन् 1682 में मुगलों से एक और निर्णायक युद्ध लड़ा, जिसमें उसने अपने सेनापति लाचित को श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए इटाकुली किले से मुगलों को खदेड़ दिया। परिणामस्वरूप, मुगल फिर कभी असम की ओर नहीं आए।

युद्ध के समय अपने सैनिकों का मनोबल बढ़ाने के लिए कहा गया उनका यह बोधवाक्य—''लाचित जियाइ थका माने गुवाहाटी एरा नाही (अर्थात् जब तक लाचित जीवित है, उससे गुवाहटी कोई नहीं छीन सकता)'' उनकी निर्भीकता, वीरता और कुशल नेतृत्व क्षमता का परिचय देता है। घायल और अत्यन्त अस्वस्थ लाचित ने

अपने सैनिकों में जोश भरने के लिए कहा था—''जब मेरे देश पर आक्रमणकारियों का खतरा बना हुआ है, जब मेरे सैनिक उनसे लड़ते हुए अपनी जिन्दगी दाव पर लगा रहे हैं, तब मैं महज बीमार होने के कारण कैसे अपने शरीर को आराम देने की सोच सकता हूँ।'' ऐसे आदर्श और प्रेरक सेनानायक की स्मृति को सम्मान देने के लिए राष्ट्रीय रक्षा अकादमी (NDA) के सर्वश्रेष्ठ कैडेट को ''लाचित बरफूकन स्वर्ण पदक'' से सम्मानित किया जाता है। लाचित बरफूकन की स्मृति को चिरस्थायित्व प्रदान करने के लिए स्वर्गदेव उदयादित्य सिंह द्वारा जोरहाट से 16 किमी. दूर हुलुन्गपारा में उनके समाधि-स्थल का निर्माण कराया गया।

मुगल आक्रान्ताओं को पराजित करके हिन्दू गौरव की ध्वज पताका फहराते हुए स्वराष्ट्र के स्वाभिमान की रक्षा करने वाले लाचित बरफूकन जैसे प्रेरणास्पद पूर्वजों से प्रभावित होकर ही तिरोत सिंह, नंगबाह, पा तागम संगमा, वीरांगना रानी रुपलियानी, रानी गाइदिन्ल्यू, मनीराम दीवान, गोपीनाथ बारदोलोई, कुशल कुँवर, कनकलता बरुआ आदि स्वाधीनता सेनानियों ने आगे चलकर अंग्रेजी साम्राज्यवाद के विरुद्ध भी आजीवन संघर्ष किया। उत्तर-पूर्व भूमि की पवित्रता और स्वाधीनता की रक्षा में लाचित बरफूकन के शौर्य और बलिदान का अप्रतिम और यदि महत्त्व है। उनका जीवन-आदर्श और जीवन-मूल्य ही परवर्ती स्वाधीनता सेनानियों का पाथेय और प्रेरणा बने। यही कारण है कि माननीय प्रधानमन्त्री श्री नरेन्द्र मोदी ने 24 नवम्बर, 2015 को 'लाचित दिवस' के अवसर पर उनकी वीरता को रेखांकित करते हुए कहा था कि ''लाचित भारत के गौरव हैं। सरायघाट के युद्ध में उनके द्वारा प्रदर्शित अभूतपूर्व साहस को कभी भी भुलाया नहीं जा सकता है।''

'कथा सतीसर' में स्त्री की सामाजिक स्थिति

डॉ. बजरंग चौहान

कथा सतीसर अपने अन्दर व्यापक अनुभव संसार को समेटे हुए एक ऐसा उपन्यास है जिसको एक ऐतिहासिक ग्रन्थ भी कह सकते हैं। यह उपन्यास कश्मीरी जीवन के विविध रंगों—पूजा-पाठ, पर्व, त्योहार, खान-पान, रीति-रिवाज और लोक-संस्कृति का सुन्दर चित्र प्रस्तुत करता है। इसे हम कश्मीर के बनते-बिगड़ते 70 वर्षों का इतिहास भी कह सकते हैं। इसमें मूल रूप में न सही, पर गौण रूप में ही स्त्रियों के हक की हिमाकत की गई है।

कथा सतीसर के अलावा चन्द्रकान्ता द्वारा लिखे 'अर्थान्तर' 1983 ई. और 'अन्तिम साक्ष्य' 2006 ई. नामक उपन्यासों में भी स्त्रियों की समस्याओं को उठाया गया है। घर-परिवार में स्त्रियों और पुरुष के प्रति होने वाले नियम में भिन्नता और पुरुष सत्ता का वर्चस्व के प्रति विद्रोह 'अर्थान्तर' की स्त्री नायिका कम्मो करती है। संस्कारशील घरों में घुटते दाम्पत्य जीवन की अस्तित्वहीनता की यन्त्रणा सहती स्त्री कम्मो को नए जीवन के साथ जीने की आकांक्षा सही अर्थों में दिखाया गया है। दूसरी तरफ 'अन्तिम साक्ष्य' में वीजी की आस्थाओं का करुण अन्त और मीनी मासी को अपने परिवार को जोड़ने की जिजीविषा बनी रहता है। स्त्री-विमर्श की दृष्टि से चन्द्रकान्ता के स्त्री-पात्रों का स्वर प्रखर या विद्रोही रूप में देखने को नहीं मिलता है। इनके पात्र पुरुष का विरोध नहीं करतीं वे उनके क्रूर मानसिकता का विरोध करती हैं। इनके पात्र पुरुष को अस्वीकार नहीं करते केवल बराबरी में एक सम्मानपूर्ण जगह के तलाश में रहते हैं।

इस उपन्यास के स्त्री-पत्रों में जानकीमाल (दादी), सोना (बेटी), कला (बहू), लल्ली (बहू), मंगला मौसी, तुलसी, शरिका, राज्ञा, कात्यायनी, प्रभा, चुन्नी, पिचरी, विजया (डॉ.), मातायी, सरस्वती, खुर्शीद, प्रभावती, अरून्धती, अशी दाई, फाता

ग्राम-मान्दुली, पोस्ट-खरिखाना, जिला-होजाई, असम, पिन-782446, मो. 8638016895, E-mail : bajarangch@gmail.com

दमचूल्हा (बीवी), राधा आदि प्रमुख हैं। वादी में महिलाओं को चहारदीवारों में बन्द कर रखने की परम्परा पहले से चली आ रही है। किन्तु इस उपन्यास के कालावधि में परिस्थितियाँ बहुत बदल गई थीं। विशेषकर दंगों और हुड़दंगों के बीच में औरतों और लड़कियों को घर से बाहर निकलना आसान काम नहीं था। अपने घर-परिवार के संस्कारों के कारण अधिकतर महिलाएँ घर-गृहस्थी के मकड़जाल में पड़ घर का ही काम करतीं और बाहर का काम पुरुष करते। लेखिका ने मनु महाराज का हवाला देते हुए लिखा है—''मनु महाराज ने तमाम आदर के साथ स्त्री के हर उम्र और हर हाल में पुरुष पर निर्भर रहने की जो सोच प्रदान की थी, उसका उत्तम नमूना अजोध्यानाथ के घर के परिवार की लक्ष्मियाँ थीं। पुरुष जो सोचे वह सही, जो करे वह उत्तम, जो आदेश दे, उसका पालन धर्म।...गोले के बाहर पुरुषों की दुनिया थी जिसमें उनका दखल शायद ही था। यदि कहीं ऐसा था तो वहाँ औरत मर्द थी और मर्द 'जनान जोया'।''[1] अर्थात् पुरानी मानसिकता के तहत यह बात फिट बैठती है। आज के आधुनिक सन्दर्भ में स्त्रियों के जीवन के मायने ही बदल गए हैं। वह भी पुरुष के सदा कन्धे-से-कन्धे मिलाकर चलना चाहती हैं।

लल्ली के जन्म पर घरवालों की मायूसी स्त्री-विरोधी थी। अजोध्यानाथ से बच कर दबी-दबी आवाज में घर के सदस्य कहा करते ''आह! दूसरी बेटी केशव को? कल का बच्चा और दो-दो सिरवालियों का बाप''[2] किन्तु परिवार के मुखिया अजोध्यानाथ स्त्रियों के हिमायती थे। तभी तो घर की पढ़ाई पूरी होने पर बच्चियों को स्कूल भेजने का निश्चय करते हैं।

उपन्यास में 'श्रीधर भट्ट' को एक दुश्चरित्र पात्र के रूप में प्रस्तुत किया गया है। यह अपनी पत्नी मतायी को बुरी तरह से पीटता, पटकता, घसीटता कोई कसर नहीं छोड़ता। 'गाँव में कोई उजली औरत उसकी मैली नजर से न बची।''[3] ऐसे लोगों की कमी कभी भी समाज में नहीं रही है। पूरे हिन्दुस्तान की तरह कश्मीर में भी महिलाओं की स्थिति ठीक नहीं थी। महिलाएँ कहाँ छली नहीं जातीं? घर के चहारदीवारों से लेकर इसके बाहर तक। तुलसी, शरिका, कात्या, राज्ञा को स्कूल में प्रभकाक मास्टर जी बुरी नजर से देखते और चिकोटियाँ काटते, चुटिया खींचने से लेकर गाल नोचने तक जैसे हरकतें करता। तुलसी का जीजा घर की चहारदीवारों में उसे जकड़ लेता। कात्या के शब्दों में ''स्कूल में प्रभकाक ने इस पर ज्यादती की, दिद्दा के घर में अपने जीजा ने दबोचा। आखिर शरीर तो इसे भी भगवान ने ही दिया। उसे कितना छिपाएगी? ये बूढ़े लोग लड़कियों का जिस्म ही तो देखते हैं, उनका मन नहीं, जरूर इनके दिमाग में कुछ खराबी होगी, कात्या को इस बात पर पक्का यकीन था।''[4]

इस उपन्यास का एक महत्त्वपूर्ण पात्र तुलसी की शादी एक बूढ़े अधेड़ उम्र के जमींदार के साथ कर दी जाती है। माँ-पिता की लाचारी, बेबसी और मजबूरी में उठाया

गया कदम लड़कियों के जीवन के लिए घातक सिद्ध होता है। अनमोल विवाह स्त्री के जीवन के साथ खिलवाड़ करने जैसा है।

कट्टरपन्थी समाज में लड़कियों को घर के दीवारों में कैद होकर रहना पड़ता था। घर के भीतर यातना भरी जीवन-यापन करते हुए उन्हें कई बार घर के सदस्यों से विद्रोह भी करना पड़ता था। ''कट्टरपन्थी समाज की ज्यादातर लड़कियाँ घर में अनशन-सत्याग्रह करके, या चूहा मारनेवाली दवा या संखिया खाकर मर जाने की धमकी के फलस्वरूप 'कोएड कॉलेज' में घुस पाई थी।''[5] लड़कियों को घर से बाहर निकलकर पढ़ाई करना पिताओं को तो पच गया, पर माताओं को नागवार गुजरी। समय के साथ-साथ सब कुछ बदलता है। जानकीमाल और कमलावती ऐसे ही महिलाओं में से हैं जो पहली बार घर से बाहर बच्चियों के स्कूल जाने पर बहुत चिन्तित हुई और चिन्तित होने का कारण भी था। कमलावती के शब्दों में—''सड़कों-कूचों के मुहानों पर जो गुंडे-बदमाश लड़कियों की ताक में खड़े रहते हैं, उनका ही क्या भरोसा? हाथ-वाथ लगाकर फजीहत ही करा दें! खींची नहीं थी दुर्गा की चुन्नी कॉलेज जाते बीच बाजार?''[6] इस तरह की घटनाओं के डर से ही माताएँ इतनी चिन्तित रहती थीं।

'संगिनी-अर्धांगिनी' में लेखिका ने जयदेदी और दुर्गा के जीवन की यातना भरी कथा को बहुत ही संजीदगी से वर्णन किया है। बार-बार लड़कियों का पैदा होना दुर्गा के लिए मुसीबत बन गई थी। दुर्गा के शब्दों में, ''आठ बच्चे जने मैंने, आठ पूरे और नौं अधूरा। दुर्गा ने उँगलियाँ जोड़कर गिनाया। चार लड़कियाँ बच गईं और बाकी एक-एक कर चले गए।''[7] दुर्गा के पति गोपाल का बेटा पैदा करने के हौंस ने दुर्गा को शारीरिक रूप से कमजोर कर दिया था और वह अक्सर बीमार रहती थी। उसका पति उसका समय से इलाज नहीं कराया और मार-पीटकर घर से निकाल दिया। उसका पति उसे पागल घोषित कर चुका था, जबकि वह पागल नहीं थी। लोगों के पूछने पर कि तुम घर जाओ तो उसका उत्तर था—''मैं नहीं जाती घर! वह मुझे नोच-नोच कर खाएगा। तत्ते चिमटे से दाग देगा, वह राक्षस है।''[8] वह घर नहीं जाना चाहती थी, उसके मन में डर समा गया था कि उसका पति फिर उसे पीटेगा। मन्दिर में प्रवेश करते ही लोगों ने उसके पवित्रता पर सवाल करने लगे? उसकी बीमारी ही उसके अपवित्रता का कारण थी। ''त्राही-त्राही! ऐ करमजली! अब मन्दिर को अपवित्र करके भगवान के कोप की भागी भी बनेगी? चल, फूट इधर से। मर कहीं बाहर जाकर। दीनकाका! तुमने इस पवित्र थान को रोगिणियों का अड्डा बना दिया क्या? जाती बेर धर्म-कर्म को तिलांजलि दी क्या?''[9] ऐसी मजबूर, लाचार, बेबस लोगो ही भगवान के शरण में जाते हैं, अजोध्या नाथ ने उसको इलाज के लिए अस्पताल में भर्ती करा दिया, ठीक होने के बाद वह मन्दिर के धर्मशाला में ही जयदेदी के साथ रहने लगी।

जयदेदी भी दुर्गा की तरह ऐसी ही अभागिनों में से एक है। जिसका पति कमजोर होने के कारण उसके लड़के-बच्चे नहीं हो पाता था। यह बात उसके परिवार में कोई नहीं समझ सका, सब उसे ही बाँझिन होने की उलाहने देते रहे। उसकी सास उसे जटाधारी तान्त्रिक बाबा के पास ले गई। जयदेदी के शब्दों में ''वह संन्यासी थोड़े था? पाखंडी बदमाश था, बोला, नहा-धोकर सूर्योदय से पहले आओ, मन्त्र दूँगा। और जब मैं उसकी, गाँजे के धुएँ से भरी कोठरी में गई तो बोला, सेवा करो। सिद्ध बाबा को प्रसन्न करो तो बीज पड़ जाएगा।...मैं पूरा जोर लगाकर भाग आई।''[10] उसके पति का देहान्त हो गया। अब वह अपने ही घर में सुरक्षित नहीं थी, उसका जेठ उसको रात में अकेला पाकर उसे दबोचता और उसके साथ जबर्जस्ती करता। सास से शिकायत करने पर सास भी उसे ही दोषी ठहराती। सास कहती कि तुम डायन हो ''वशीकरण उच्चाटन मन्त्र जानती हो।''[11] इस प्रकार एक स्त्री के द्वारा ही स्त्री की शोषण की कहानी भी कथा सतीसर में मौजूद है। दुर्गा और जयदेदी दोनों के बीच वार्तालाप के दौरान दुर्गा ने कहा ''औरत जनम तो दुःख का अम्बार। उमर-भर मर्द से डरती रहे। बाप हो या पति, अन्त में अपने कोखजने से भी डर! चल तू दुःख न मना। मैंने नौ बेटियाँ जनीं तो कौन-सा सुख पाया? बेटा भी जनती तो क्या होता? वह कहा है न कि सात पुत्रोंवाली को कुत्ते खा गए थे।''[12] इस प्रकार कथा सतीसर में स्त्री-शोषण के अनेकों उदाहरण हैं।

डॉ. कात्या का बचपन का दोस्त त्रिभुवन की पत्नी भी तीसरे बार पेट से थी। वह जैसे ही उसके पास अपने पत्नी को लेकर आया तो कात्या को कामरेड की याद आ गई। कामरेड का झंडा लेकर घूमने वाला कैसे अपने सिद्धान्तों को भूल गया है। कात्या ने उससे कहा ''पाँचेक वर्षों में तीनेक बच्चों को जन्म देना खेल नहीं होता कामरेड यह शोषण का एक तरीका है कामरेड।''[13] आगे डॉ. कात्या कामरेड शब्द पर जोर देती हुई कहती है—''पत्नी के प्रति क्रूरता की हद तक लापरवाही। वाह रे कामरेड कहाँ गया तुम्हारा दर्शन? स्त्रियों के समान अधिकार और सम्मान की बातें?''[14] मार्क्स के विचारधारा का बखान करने वाला त्रिभुवन समय के साथ-साथ बदल गया था। शोषितों का पक्षधर त्रिभु की सहानुभूति कॉलेज के पढ़ाई के साथ खत्म हो गई थी। शोषित स्त्रियों के प्रति सहानुभूति व्यक्त के सन्दर्भ में त्रिभू के पत्नी से उसके बारे में पूछा गया तो सन्दर्भ में ''स्त्री भीतर बैठे डर और अबूझ आशंका से हकला-सी गई सदियों से डरी हुई औरतें, डर जिन्हें संस्कार और विरासत के रूप में मिला है।''[15]

कात्या एक डॉक्टर के रूप में काम करती थी। रोज-रोज के रोग, पीड़ा, घावों और दर्द की कराहती दुनिया की सेवा करते-करते वह अपनी दुनिया से दूर होती जा रही थी। वह वहाँ के स्त्रियों के बारे में अधिक जानती थी, उनका पीड़ादायी जीवन के आलोक में वह अपनी शादी का फैसला नहीं ले पा रही थी। कात्या ''अपने आस-पास के समाज की स्त्रियों की दमघोंटू नियति और दबी-दुबकी जिन्दगी देख ऊब

और आक्रोश से भर उठती है। पढ़ी-लिखी लड़कियाँ भी शादी होते ही पुरुष वर्चस्व को आँख मूँद स्वीकारतीं, समझौतों की राह चलने लगी हैं। कात्या वैसी जिन्दगी नहीं जीना चाहती।''[16] इस प्रकार कात्या के माध्यम से लेखिका ने पूरी वादी की स्त्रियों का यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया है।

दीनकाक का घर दंगाइयों ने जला डाला। अब वह भाड़े के मकान में अपना गुजर-बसर कर रहे हैं। आर्थिक रूप से वह बिल्कुल टूट चुके हैं। ढलती हुई उम्र के साथ अस्थमा से खाँस-खाँसकर हालत खराब और बेटे की बीमारी ने घर के हालत और भी पस्ता कर दिया है। जिसकी मजबूरी का फायदा सुदर्शन डॉक्टर जैसे लोग उठाने लगते हैं। दीनकाक की पत्नी मंगला मौसी के पास क्या था? कुछ भी नहीं था। अपने बेटे अजय के इलाज के लिए मंगला को भारी कीमत चुकानी पड़ती है। बेटी तारा ने विरोध किया, पर बाद में भाई की जान बचाने के लिए उसे भी समझौता करना पड़ा। ''मंगला के पास क्या था एक देह के सिवा? प्रौढ़ उम्र में भी भरी-भरी उजली देह, जो धुआँती लकड़ियों पर साग-भात राँधते भी कलौंछ से बची रह गई थी।''[17] ब्राह्मण वर्ग में पैदा होने के कारण वह किसी के घर में काम भी नहीं कर सकती थी। ब्राह्मण वर्ग की कुलीन चिन्ताओं ने उसे मजबूर कर दिया था।

वादी में स्टोव से जलाकर मार दिए जाने की पहली घटना ने सबकी आँखें खोल दीं। अजोध्या नाथ (ताता) शिवनाथ से बातें करते हुए कहते हैं कि—''लड़कियाँ पढ़-लिखकर अपने अधिकार समझ गई हैं। यह अच्छी बात है शिवनाथ, अब पंडिता साहब की बेटी की तरह लड़कियाँ स्टोव से जलकर नहीं मरेंगी।''[18] समाज में परिवर्तन के लिए स्त्रियों का शिक्षित होना बहुत जरूरी है। इसकी जरूरत ताता बहुत पहले ही समझ गए थे। इसीलिए उन्होंने प्रण किया था कि ''लड़कियों को दुर्गा बनाकर रहेंगे।''[19] अर्थात् ताता शारीरिक और मानसिक रूप से लड़कियों के मजबूत होने पर बल दे रहे थे। तभी तो ताता कमला नेहरू, सरोजनी नायडू और स्वरूप रानी को घर के स्त्रियों के लिए आदर्श मानते हैं।

शिवनाथ रैन की बेटी राज्ञा रैन की दाम्पत्य जीवन की कहानी भी दुःखों से भरी हुई है। घर में बेटी का पैदा होना उसके लिए मुसीबत जैसा है। बेटा पैदा न होने पर राज्ञा की सास अक्सर उसे कोसा करती। सास और पति ने शादी के बाद से ही उसके नाक में दम कर रखा था। एक बार छात्रों की कापियाँ बाँचने में देर हो गई तो सास ने यह आरोप लगा दिया कि बहू समय पर खाना नहीं बनाती है जबकि ऐसा पहली बार हुआ था। राज्ञा ने गुस्से में कहा ''माँजी, बस कीजिए, आगे से मैं आपकी गालियाँ नहीं सुनूँगी। जो कुछ कहना है, बेटे से कहिए...।''[20] विमल जम्मू से लौटा तो उसके मन में आस जगी कि शायद मैं इस दलदल से निकल सकूँ पर ऐसा नहीं हुआ। उसके आने के बाद कहानी उलटा हो गई। घर की छोटी-छोटी बातों पर सास बवाल मचाती उसने विमल से नमक-मिर्च लगाकर सारी बातें कहीं, ''उम्र-भर तो बड़ों की सुनती-सहती

रही, अब लाड़ो रानी के कोसने मुझसे नहीं सहे जाते।''[21] और फिर क्या था इतना में राज्ञा पर विमल भिड़ गया। ''ऐसी हिम्मत किस कमीनी की हो गई, जो मेरी माँ को कोसने सुनाए? झोंटा पकड़कर घर से बाहर न निकालूँ उसे? जोरू का गुलाम नहीं हूँ मैं। बड़े बाप की बेटी होने का गुमान है तो रहे बाप के पास।''[22] क्या बिना अपराध किए ही अपराध-बोध ठीक है? पति का क्रोध देख राज्ञा को काठ मार गया वह सफाई भी न दे पाई। ऐसी घटना एक बार नहीं घटी थी अब तो उसका घर ससुराल से सेल्युलर जेल बन गया था। उसके सास और पति ही इस जेल के जेलर थे। वह अपने जीवन के किस अन्धकार कोठरी में ढकेल दी गई थी खुद उसे पता नहीं था। राज्ञा के शब्दों में ''मुझे भोगकर विमल खर्राटे लेने लगता। मेरे भीतर चीख उठती। यह देह धर्म का निर्वाह था या बलात्कार? जिसमें मैं कहीं नहीं, थी भी तो वस्तु-भर।''[23] पति का पत्नी पर इस तरह से अत्याचार कहाँ तक जायज था? पत्नी को सिर्फ एक बर्तन समझना अनुचित होगा। राज्ञा को गर्ल्स कॉलेज में नौकरी मिली, तब उसके अन्दर थोड़ा आत्मविश्वास जाग उठा। पारिवारिक जीवन की रूढ़िगत परम्पराओं को सहते-सहते वह ऊब गई थी।

अन्त में राज्ञा ने अपना घर छोड़ दिया। इस यातना भरे जीवन से उसे मुक्ति चाहिए था और उसने अपने पति विमल को 'तलाक' दे दिया। जबकि दूसरे तरफ राज्ञा की ननद जया के लिए घर में कोई नियम-कानून न था, उस पर कोई पाबन्दी न थी। वह नाटक-नौटंकी या कल्चरल शो में जा सकती थी। बहू और बेटी के लिए अलग नियम-कायदा क्यों? बहुओं के प्रति कठोरता और बेटियों के प्रति कोमलता का भव रखना बिल्कुल अनुचित है।

इन तमाम महिलाओं की यातना भरी कथा के साथ-साथ लेखिका ने जिहादियों और आतंकवादियों के द्वारा किए गए अत्याचार और दुराचार को भी संजीदगी से प्रस्तुत किया है। कितनी युवतियों और महिलाओं का जीवन बर्बाद हो गया इसका कोई हिसाब न था। डॉ. कात्या जब जिहादियों का इलाज करने जाती है तब इस बात का भंड़ाफोर होता है कि चौदह वर्ष के नूरा का जीवन कैसे बर्बाद हो गया। उसके माँ ने बताया ''सब ढकोसला है गुंडागर्दी, और कुछ नहीं। मेरे लड़की...पागल हो गई। इन शिकसलदों ने उसे खराब कर डाला।''[24] इस प्रकार नूरा जैसी हजारों लड़कियों और महिलाओं का जीवन दहशतगर्दो ने बर्बाद कर दिया था।

इस प्रकार कथा सतीसर में स्त्रियों के शोषण और विस्थापन का यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया गया है। समय के साथ बदलते स्त्रियों की सुविधा-असुविधा, सुरक्षा-असुरक्षा, शोषण को लेकर बहुत ही सालते प्रश्न उठाए गए हैं। जिसका ज्वलन्त उदाहरण इस उपन्यास में इधर-उधर बिखरे पड़े हैं।

संदर्भ

1. कथा सतीसर, पृ. सं–30।
2. कथा सतीसर पृ. सं.–50।
3. कथा सतीसर, पृ. सं.–128।
4. कथा सतीसर, पृ. सं.–122।
5. कथा सतीसर, पृ. सं.–222।
6. कथा सतीसर, पृ. सं.–222।
7. कथा सतीसर, पृ. सं.–247।
8. कथा सतीसर, पृ. सं.–243।
9. कथा सतीसर पृ. सं.–245।
10. कथा सतीसर, पृ. सं.–248।
11. कथा सतीसर, पृ. सं.–249।
12. कथा सतीसर, पृ. सं.–249।
13. कथा सतीसर, पृ. सं.–303।
14. कथा सतीसर, पृ. सं.–303।
15. कथा सतीसर, पृ. सं.–302।
16. कथा सतीसर, पृ. सं.–307।
17. कथा सतीसर, पृ. सं.–295।
18. कथा सतीसर, पृ. सं.–379।
19. कथा सतीसर, पृ. सं.–380।
20. कथा सतीसर, पृ. सं.–412।
21. कथा सतीसर, पृ. सं.–412।
22. कथा सतीसर, पृ. सं.–412।
23. कथा सतीसर, पृ. सं.–422।
23. कथा सतीसर, पृ. सं.–551।

स्वामी विवेकानन्द का शिक्षा-चिन्तन

सुरेन्द्र माहेश्वरी

इतिहास पुरुष स्वामी विवेकानन्द ने वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना को सम्पूर्ण विश्व में प्रचारित करते हुए अपनी ओजपूर्ण वाणी से भारतवासियों को जागृत करते हुए सन्देश दिया है कि यदि भारत देश को अशिक्षा, कुसंस्कारों, असामाजिकता, संस्कारहीनता और दुर्बलता से मुक्ति दिलाना है तो जन शिक्षा को व्यापकता देनी होगी। श्रीरामकृष्ण ने भी कहा है कि, जब तक मैं जीवित हूँ तब तक सीखता रहूँगा। वह व्यक्ति वह समाज जिसके पास सीखने को कुछ भी नहीं है वह पहले से ही मौत के झबड़े में है।'' स्वामी विवेकानन्द कहते हैं जो शारीरिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक रूप से जो भी कमजोर बनाता है उसे जहर की तरह त्याग दो। हमारा कर्तव्य हैं कि हम हर किसी को उसका उज्ज्वल आदर्श जीवन जीने के संघर्ष में प्रोत्साहित करे। जीवन में उच्चादर्शों को प्राप्त करने के लिए हम जितना ज्यादा बाहर आएँ और दूसरों का भला करें। हमारा हृदय उतना ही शुद्ध होगा और परमात्मा उसमें बसेंगे।

स्वामी जी का कथन है कि जिस शिक्षा द्वारा इच्छाशक्ति का प्रवाह और विकास लाया जाता है और फलदायक होता है वही शिक्षा कहलाती है। स्वामी जी का राष्ट्रव्यापी उद्घोष कि ''मेरी समस्त भावी आशाएँ उन युवकों में केन्द्रित हैं जो चरित्रवान एवं बुद्धिमान हों।'' उन्होंने आवाहन किया कि उठो मेरे शेरो! इस भ्रम को मिटा दो कि तुम दुर्बल हो, तुम एक अमर आत्मा हो, सनातन हो, स्वछन्द जीवन हो। हमारी सोच ही हमें महान बनाती है। हम वो हैं जो हमारी सोच ने हमें बनाया है। इसीलिए इस बात का ध्यान रखिए कि आप क्या सोचते हैं। शब्द गौण हैं, विचार प्रमुख है। वे दूर तक यात्रा करते हैं। अतः सुसंस्कारी शिक्षा की अनिवार्यता है। हमें ऐसी शिक्षा मिले कि हम हर किसी को उसका उच्चतम आदर्श जीवन जीने के संघर्ष हेतु प्रोत्साहित करें। किसी चीज से डरो मत। तुम अद्भुत काम करोगे। यह निर्भयता ही जो क्षण-भर में आनन्द लाती है। कुछ मत पूछो, बदले में कुछ मत माँगो, जो देना है वो देगा। वो तुम तक वापस आएगा पर उसके बारे में अभी मत सोचो।

प्रधानाचार्य, राजकीय उच्च माध्यमिक विद्यालय टहुँका, जिला भीलवाड़ा (राजस्थान), मो. 9829925909

स्वामी विवेकानन्द वेदान्त और पाश्चात्य शिक्षा दोनों को साथ रखते हुए शिक्षा द्वारा विश्व कल्याण की भावना को प्रसारित करना चाहते थे। स्वामी जी का शिक्षा के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण था। उच्च आदर्शों की अभिप्राप्ति के लिए शिक्षा को ही सर्वोपरि साधन मानते थे। मानव विकास के लिए आचरण शुद्धि, भाईचारा, संवेदनशीलता, बन्धुत्व की भावना, दलितों का उद्धार-नारी-चेतना और समरसता की प्रधानता हेतु शिक्षा की अनिवार्यता है। शिक्षा द्वारा आज का बालक जब कल का नागरिक बने तो वह समाज-सेवा, धार्मिक सद्भावना, जनशिक्षा और श्रेष्ठ नागरिकता की दिशा में प्रवृत्त होगा। विश्व शान्ति और अध्यात्म की दिशा में उन्मुख करने के लिए शिक्षा एक महत्त्वपूर्ण संसाधन है। शिक्षा द्वारा ही अभूतपूर्व सामाजिक परिवर्तन सम्भव हैं। स्वामी जी का शैक्षिक चिन्तन जनकल्याणकारी होने के कारण ही विश्व समुदाय में आदरणीय रहा। यह गर्व की बात है कि स्वामी जी ने अपने शैक्षिक चिन्तन द्वारा ही विश्व पटल पर अपना धर्म ध्वज लहराया। उनका जीवन-दर्शन व शैक्षिक चिन्तन आदर्श, अनुकरणीय तथा लोकोपकारी सिद्ध हुआ।

भारत देश एक बहुरंगी देश है। भाषा, आचरण, भाव, विचार, पहनावा, रीति-रिवाज, संस्कार तथा जीवन-शैली में भिन्नता होते हुए भी सभी को एक तत्त्व के रूप में मानते हुए शिक्षा से समाविष्ट किया है। स्वामी जी सभी धर्मों को समान मान्यता देते रहे हैं। स्वामी जी के अनुसार शिक्षा मनुष्य की अन्तर्निहित पूर्णता की अभिव्यक्ति है। सम्पूर्ण शिक्षण-प्रशिक्षण का उद्देश्य मनुष्य निर्माण का ही रहा है। वर्तमान में शिक्षा व शिक्षण पर पाश्चात्य प्रभाव अवश्य है किन्तु स्वामी जी के शैक्षिक चिन्तन का पूरा प्रभाव समग्र शिक्षा-व्यवस्था पर दृष्टिगत होता है। शिक्षा का मूल उद्देश्य मनुष्य की शारीरिक क्षमता, मानसिक, भावात्मक, धार्मिक, नैतिक, चारित्रिक, सामाजिक तथा व्यावसायिक विकास करना है। शिक्षा द्वारा मानव अपनी वैचारिक मुक्तता के साथ ही देश-भक्ति से परिपूर्ण रहकर राष्ट्र के लिए समर्पित हो सके, वही सच्ची शिक्षा है।

शिक्षा ऐसी हो जो मानव-मन में आत्मविश्वास, आत्मश्रद्धा, आत्मत्याग, आत्मनियन्त्रण, आत्म-निर्भरता तथा आत्म-ज्ञान जैसे विशिष्ट गुणों का प्रादुर्भाव कर सके। स्वामी जी ने शिक्षा को परिभाषित करते हुए कहा है कि ''जिस शिक्षा से हम अपने जीवन का निर्माण कर सके, चरित्र गठन कर सके और विचारों का सामंजस्य कर सके वहीं शिक्षित कहलाने योग्य है। स्वामी जी के अनुसार शिक्षा बच्चे की आवश्यकता और स्वभाव के अनुसार होनी चाहिए। वे ऐसे बालकों का निर्माण करना चाहते थे जिनके चेहरे पर आभा, शरीर में बल, मन में प्रचंड इच्छाशक्ति, बुद्धि में पांडित्य, जीवन में स्वावलम्बन, हृदय में शिवा, प्रताप, ध्रुव तथा प्रहलाद की जीवन गाथाएँ अंकित हों और उन्हें देखकर महापुरुषों की स्मृतियाँ झंकृत हो उठे।

बालकों की शिक्षा के लिए शिक्षकों को अपने चरित्र और व्यक्तिगत जीवन को आदर्श रूप में प्रस्तुत करना होगा। स्वामी जी इसीलिए परोपकारी पुरुषों को ही शिक्षण व्यवसाय के लिए उपयुक्त मानते थे। उनके विचारानुसार शिक्षकों के शब्दों का प्रभाव शिष्यों पर तभी होगा जब शिक्षक मन और हृदय से पवित्र होगा। सच्चे गुरु उसे माना है जो बालकों को उसकी आँखों से देख सके, उनके कानों से सुन सके और उनके मन को समक्ष सके। ऐसा गुरु ही अपनी आत्मा को शिष्यों की आत्मा में स्थानान्तरित कर सकता है। अनुशासन स्थापना के लिए उन्होंने दंड के स्थान पर आत्मानुशासन पर विशेष बल दिया। वे चाहते थे कि विद्यार्थी में नम्रता, विनयशीलता, आचारशुद्धता, सीखने की जिज्ञासा, संघर्ष की क्षमता, ज्ञान-पिपासा, एकाग्रता तथा गुरुभक्ति आदि विशेषताओं की अनिवार्यता हो।

बालिका शिक्षा के महत्त्व को प्रतिप्रादित करते हुए स्वामी जी ने कहा है कि ''स्त्री-जाति की उन्नति के बिना भारत कभी भी विकास नहीं कर सकता। उस देश व राष्ट्र के महान बनने की कोई आशा नहीं की जा सकती जहाँ नारी-जाति का अपमान हो और वह अशिक्षा के बन्धन से मुक्त न रह सके।'' उनकी दृष्टि में निर्धनता, दरिद्रता जनशिक्षा की राह में सबसे बड़ी बाधा है। जन शिक्षा को महत्ता प्रदान करते हुए उन्होंने कहा है कि ''जन शिक्षा द्वारा ही राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण किया जा सकता है। शिक्षा व्यक्ति को उसके समाज, देश और विश्व के साथ सम्बन्धित कर मानवता की भावना का विकास करती है। विश्व के प्रति संवेदनशील वही हो सकता है जो राष्ट्रहित के लिए मन-वचन और कर्म से तत्पर हो वही सच्चा भारतीय कहलाने योग्य है।

स्वामी जी ने वर्तमान शिक्षा की न्यूनताओं का वर्णन करते हुए बताया कि ''आज की शिक्षा की सबसे बड़ी खामी यह है कि इसके सामने अनुकरण करने के लिए निश्चित लक्ष्य नहीं है। एक चित्रकार अथवा मूर्तिकार यह जानता है कि उसे क्या बनाना है तभी वह अपने कार्य में सफल हो पाता है। आज शिक्षक को यह स्पष्ट नहीं है कि वह किस लक्ष्य को लेकर अध्यापन कार्य कर रहा है। सभी प्रकार की शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य मनुष्य के व्यक्तित्व का निर्माण करना है। इसके लिए वेदान्त के दर्शन को ध्यान में रखते हुए मनुष्य निर्माण की शिक्षा प्रदान करनी चाहिए।

आज की शिक्षा अच्छे डॉक्टर, इंजीनियर, प्रबन्धन, प्रशासक तो तैयार कर रही है लेकिन वो इन्सान तैयार नहीं कर पा रही है जो संवेदनाओं से परिपूर्ण हो, जिसमें मानवता निवास करती हो, जो सृजनशील हो, जो समाज के पिछड़े वर्गों को ऊपर उठाने में परिपूर्ण हो। इसका नितान्त अभाव है। स्वामी जी ने विश्व-शान्ति की परिकल्पना से अभीभूत होकर शिक्षा के क्षेत्र में विशेष परिवर्तन चाहते हुए कहा है कि हम बालक को एक ऐसे नागरिक के रूप में विकसित करना चाहते हैं जो विश्व के नागरिकों की तकलीफ, दुःख-दर्द, अभाव, कष्ट, व्यथा, सन्ताप का अनुभव कर सके।

हमें ऐसा आदमी नहीं चाहिए जो मात्र अनुभव करे पर ऐसा आदमी चाहिए जो वस्तुओं और स्थितियों को परिपूर्ण बना सके। जो प्रकृति को पूरे मन से गहराई तक समझ सके उसमें खोज कर सके। हमें ऐसा मनुष्य चाहिए जो रुके नहीं पर निरन्तर कार्य करो और कार्यों को सही रूप में सम्पूर्णता तक पहुँचा सके।

स्वामी जी ने युवा पीढ़ी को सन्देश दिया है कि तुम जीवन का एक ध्येय बना लो, उस पर मनन करो उसके सपने देखो शरीर का प्रत्येक अंग उस लक्ष्य से आप्लावित हो अन्य सभी विचारों को छोड़े, कठिन परिश्रम करे अगर तुम जीओ या मरो कोई गम नहीं बिना परिणाम सोचे अपने ध्येय की पूर्ति में लगे रहो तो मात्र छः माह में लक्ष्य की सिद्धि निश्चित होगी। स्वामी जी का विचार था कि रोगी चिकित्सक के पास जाने को तैयार नहीं हो तो चिकित्सक ही रोगी के पास क्यों न जाए? यदि गरीब लोग शिक्षा के निकट नहीं आ सकते तो शिक्षा को ही उनके लिए खेतों पर उनकी फैक्ट्री या सर्वत्र जाना होगा।

स्वामी विवेकानन्द का शैक्षिक चिन्तन बड़ा व्यापक था। उन्होंने धर्म की शिक्षा, नारी-शिक्षा तथा जन शिक्षा पर विशेष बल दिया है। वे जीवनोन्मुखी और विचारोत्तर शिक्षा के पक्षधर रहे हैं। वे भारतीय समाज के सुधार हेतु शिक्षा में कला, विज्ञान, साहित्य और संस्कृति ज्ञान के पोषक रहे हैं। वे शिक्षा द्वारा सामाजिक परिवर्तन से ऐसा भारत चाहते थे जो परम्परागत अन्धविश्वास, पाखंड, अकर्मण्यता, जड़ता और आधुनिक सनक तथा कमजोरियों से स्वतन्त्र रहकर आगे बढ़े। स्वामी जी शिक्षा द्वारा लौकिक और पारलौकिक दोनों को जीवन के लिए तैयार करना चाहते थे। कार्य के प्रत्येक क्षेत्र में व्यावहारिक बनने की उनकी सीख रही है।

स्वामी जी के शिक्षादर्शन के आधारभूत सिद्धांतों के अनुसार शिक्षा ऐसी हो जिससे बालक का शारीरिक, मानसिक व आत्मिक विकास हो सके। बालक के चरित्र का विकास हो, उसका मन विकसित हो, बुद्धि बढ़े और आत्मनिर्भरता की दिशा में उन्मुख हो सके। बालक व बालिकाओं की समान शिक्षा-व्यवस्था हो। धार्मिक व नैतिक शिक्षा पुस्तकों के स्थान पर आचरण व संस्कारों से दी जानी चाहिए। लौकिक व पारलौकिक ज्ञान की शिक्षा ग्रहण कर सके। गुरु-शिष्य का निकटतम सात्त्विक सम्बन्ध हो तथा शिक्षा जन शिक्षा के रूप में सर्वसाधारण को शिक्षित कर सके। उन्होंने देश को विकसित करने के लिए तकनीकी शिक्षा को महत्त्व दिया। परिवार बालक की प्रथम पाठशाला है अतः शिक्षा यहीं से प्रारम्भ हो इसके लिए परिवार संस्कारवान पाठशाला के रूप में प्रस्तुत हो सके।

इस प्रकार स्वामी विवेकानन्द ने भारत राष्ट्र को सर्व शिक्षा से जाग्रत करते हुए विश्व बन्धुत्व व वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना को प्रगाढ़ता प्रदान की। उनका शैशिक चिन्तन ही इस दिशा में सर्वोपरि रहा तथा विश्व-स्तर पर भारतीय संस्कृति को प्रचारित करते हुए उसे अपने शैक्षिक चिन्तन से लाभान्वित किया।

हिन्दी पत्रकारिता में 'हंस' और 'जागरण' का योगदान : एक परिचय

कृष्ण वीर सिंह सिकरवार

1921 के बाद हिन्दी पत्रकारिता का समसामयिक युग आरम्भ होता है। इसी समय के लगभग हिन्दी का प्रवेश विश्वविद्यालयों में हुआ और कुछ ऐसे कृति सम्पादक सामने आए जो अंग्रेजी की पत्रकारिता से पूर्णतः परिचित थे और जो हिन्दी पत्रों को अंग्रेजी, मराठी और बँगला के पत्रों के समकक्ष लाना चाहते थे। फलतः साहित्यिक पत्रकारिता में एक नए युग का आरम्भ हुआ। इस युग में जिन साहित्यिक पत्रों का साहित्य-जगत् में पदार्पण हुआ उनमें प्रमुख हैं–'स्वार्थ' (1922), 'माधुरी', 'मर्यादा' एवं 'चाँद' (1923), 'मनोरमा', 'समालोचक' (1924), 'चित्रपट' (1925), 'कल्याण' (1926), 'सुधा' (1927), 'विशाल भारत', 'त्यागभूमि' (1928), 'गंगा' (1930), 'विश्वमित्र' (1933), 'रूपाभ', 'साहित्य सन्देश' (1938), 'कमला', (1939), 'मधुकर', 'जीवन साहित्य' (1940), 'विश्वभारती', 'संगम' (1942), 'कुमार' (1944), 'नया साहित्य', 'पारिजात' (1945), 'हिमालय' (1946), आदि। इसी युग में हिन्दी नवजागरण में अहम् भूमिका निभाने वाले महान कथाकार मुंशी प्रेमचन्द के दो ऐसे पत्रों का सूत्रपात होता है, जिनका योगदान हिन्दी पत्रकारिता के क्षेत्र में हमेशा अविस्मरणीय रहेगा। पहला पत्र है 'हंस' मासिक पत्र (वर्ष 1930) एवं दूसरा है 'जागरण' साप्ताहिक पत्र (वर्ष 1932)।

प्रेमचन्द साहित्य का अगर गहराई से अध्ययन करें तो पाया कि उन्होंने अपने जीवनकाल में कुल पाँच छोटी-बड़ी पत्र-पत्रिकाओं का सम्पादन, सह-सम्पादन किया। संक्षेप में उनका विवरण इस प्रकार है :–

(1) 'मर्यादा' मासिक पत्रिका (ज्ञान मंडल काशी से प्रकाशित। वैशाख 1979 वि. के केवल एक अंक के स्थानापन्न सम्पादक रहे। मूल सम्पादक

आवास क्रमांक एच–3, राजीव गाँधी प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय, एयरपोर्ट बाईपास रोड, भोपाल–462033 (म.प्र.), मो. 09826583363, E-mail : krishanveer74@gmail.com

श्री सम्पूर्णानन्द जी थे जो उस समय जेल में थे, उनकी अनुपस्थिति में प्रेमचन्द जी ने सम्पादक का कार्य किया)।

(2) 'माधुरी' मासिक पत्रिका (नवल किशोर प्रेस लखनऊ से प्रकाशित। अप्रैल 1927 से जनवरी 1931 तक सहायक सम्पादक रहे)।

(3) 'चाँद' मासिक पत्रिका (चाँद कार्यालय इलाहाबाद से प्रकाशित एवं इसका दिसम्बर 1926 के एक अंक (गल्पांक विशेषांक) का सम्पादन किया)।

(4) 'हंस' मासिक पत्रिका (सरस्वती प्रेस बनारस से प्रकाशित। 10 मार्च, 1930 से अक्टूबर 1936 तक प्रकाशित)।

(5) 'जागरण' साप्ताहिक पत्र (सरस्वती प्रेस बनारस से प्रकाशित जिसका 22 अगस्त, 1932 से लेकर 25 अगस्त, 1934 तक सम्पादन किया, इस दौरान 'जागरण' के कुल 89 अंक निकलने की सूचना मिलती है)।

इस तरह प्रेमचन्द द्वारा अपने जीवन-काल में पाँच पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादन, सह-सम्पादन किए जाने की जानकारी प्राप्त होती है। इन पत्रिकाओं में 'हंस' मासिक पत्रिका एवं 'जागरण' हिन्दी साप्ताहिक पत्रिका वह पत्रिकाएँ थीं, जिनको प्रेमचन्द ने स्वयं स्थापित किया था। प्रस्तुत आलेख में इन्हीं दोनों पत्रिकाओं का एक परिचयात्मक विश्लेषण करने का प्रयास किया गया है, ताकि पाठक जान सकें कि इन दोनों पत्रिकाओं की हिन्दी पत्रकारिता के क्षेत्र में क्या भूमिका रही। आलेख का आशय केवल इतना ही है कि पाठक जान सकें कि प्रेमचन्द ने कितनी विषम परिस्थितियों में विभिन्न प्रकार की कठिनाइयाँ होने के बावजूद इन दोनों पत्रों को गतिमान बनाए रखा। जिनमें प्रमुख रूप से पत्रों का चलना, जमानत लगना, हंस का बन्द हो जाना, जमानत जमा कर फिर से पत्रों का संचालन निर्बाध रूप से चलाए रखना, महात्मा गाँधी के आग्रह पर 'हंस' भारतीय साहित्य परिषद् का मुखपत्र बनना, जमानत के कारण हंस का प्रकाशन स्थगित होना, आर्थिक कठिनाइयों के बावजूद हंस की जमानत जमा कर उसको दोबारा खड़ा करना, प्रेमचन्द जैसे सच्चे साहित्य-प्रेमी व कथाकार के ही बूते की बात थी।

आलेख में प्रेमचन्द द्वारा विभिन्न साहित्यिक मित्रों को लिखे पत्रों व 'हंस' एवं 'जागरण' में लिखे गए उनके बहुमूल्य सम्पादकीय टिप्पणी आदि के सूत्रों को आधार बनाया गया है।

'हंस' मासिक पत्रिका—प्रेमचन्द के एक निकट के रिश्तेदार थे जो विश्वविद्यालय में पढ़ाते थे। प्रेमचन्द ने 'प्रिय कान्ह जी' के सम्बोधन से 3 दिसम्बर, 1929 को एक पत्र लिखा और 'हंस' पत्रिका को निकालने में साझा करने के लिए आमन्त्रित किया। इसी पत्र में प्रेमचन्द ने पत्रिका की रूपरेखा स्पष्ट करते हुए लिखा कि प्रत्येक अंक में तीन मौलिक तथा दो अनुवादित कहानियाँ, आठ पृष्ठों में धारावाहिक उपन्यास, आठ पृष्ठों में सामाजिक, राजनीतिक, शैक्षिक टिप्पणियाँ, चार पृष्ठों में श्रेष्ठ पुस्तकों की

समीक्षाएँ तथा शेष बारह पृष्ठों में इतिहास, सेक्स तथा यात्रा आदि पर सामग्री हो सकती है।''[1] प्रस्तुत पत्र में प्रेमचन्द के द्वारा पत्रिका की रूपरेखा के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी प्राप्त होती है। 'हंस' की रूपरेखा स्पष्ट होने के पश्चात प्रेमचन्द के सम्पादन में 'हंस' का पहला अंक मार्च 1930 (वसन्त पंचमी) में प्रकाशित होकर पाठकों के समाने प्रस्तुत हुआ। 'हंस' का नामकरण प्रेमचन्द के अभिन्न मित्र जयशंकर प्रसाद ने किया था। प्रेमचन्द को यह नाम बहुत पसन्द आया और उन्होंने 'हंस' के नाम से मासिक पत्रिका निकालने की घोषणा कर दी। 24 जनवरी, 1930 को लिखे पत्र में प्रेमचन्द जयशंकर प्रसाद को 'हंस' के लिए लेख आदि की माँग करते हुए कहते हैं कि—''हंस का नाम आ गया। आपसे उसके लिए कुछ याचना करूँ? मैं छोटे-छोटे 'कंकाल' चाहता हूँ या कोई उपन्यास हो तो वह भी बड़े प्रेम और आदर से प्रकाशित करूँगा। काशी में कोई साहित्य की पत्रिका न निकलती थी। काशी के लोगों के कलम से दूसरे नगरों को फैज पहुँचता है और काशी में सन्नाटा। मस्जिद में दिया जले और घर में अँधेरा! मैं धनी नहीं हूँ, मजदूर आदमी हूँ, लेकिन काशी का यह अभाव मुझे लज्जास्पद जान पड़ा और मैंने 'हंस' निकालने का निश्चय कर लिया। धन तो आपसे अभी नहीं माँगता, शायद कभी वह भी माँगू, लेकिन लेखनी की विभूति अवश्य माँगता हूँ। होली एक पत्र निकाल देना चाहता हूँ। सबसे पहला हक काशी का है। इसे ख्याल रखिए।''[2]

'हंस' निकलने की सूचना एवं हंस के लिए आलेख भेजने हेतु प्रेमचन्द अन्य मित्रों को भी प्रदान करते हैं :— 18 जनवरी, 1930 को जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज' को कहते हैं 'तुम्हारा हंस' अब घोंसले से निकलने जा रहा है। होली को वह निकलेगा, लेकिन जाकर वृक्ष तक पहुँचेगा या बीच ही में गिर पड़ेगा, यह हम लोगों के उद्योग पर है।''[3] 22 जनवरी, 1930 को हरिहरनाथ से प्रेमचन्द लेख की माँग करते हुए लिखते हैं ''आशा है मुझे आपका आश्वासन मिलेगा कि आप 'हंस' के लिए लिख रहे हैं।''[4] अपने प्रिय मित्र दयानारायण निगम को 12 फरवरी, 1930 को 'हंस' की सूचना देते हुए कहते हैं ''मैं फागुन यानी नए साल से एक हिन्दी रिसाला 'हंस' निकालने जा रहा हूँ।''[5] 27 मार्च, 1930 को पंडित विनोद शंकर व्यास को 'हंस' की जानकारी देते हुए कहते हैं ''हंस तो आपने देखा ही होगा।''[6] 28 फरवरी, 1931 को पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' को कहते हैं ''मैंने तो अपना एक छोटा-सा 'हंस' निकाल लिया है। उसी में कुछ थोड़ा-बहुत लिख लेता हूँ।''[7] 10 मई, 1933 के पत्र में वीरेश्वर सिंह को कहते हैं ''यदि तुम अपनी रचना भेज सको तो बहुत उत्तम हो।''[8] बहादुर चन्द छावड़ा को 15 अक्टूबर, 1933 को लिखते हैं कि ''यह जानकर बड़ा हर्ष हुआ कि आप लाइदेन विश्वविद्यालय में अध्यापन कार्य कर रहे हैं। आप लोगों को धन्य है जो विदेशों में भारत का नाम रोशन कर रहे हैं। मैं यहाँ से 'हंस' नामक एक मासिक पत्रिका निकालता हूँ। यदि अवकाश मिले तो कभी-कभी वहाँ का कुछ हाल उसके

लिए लिखने की कृपा कीजिएगा। सचित्र हो तो और भी अच्छा।''[9] ललिता शंकर अग्निहोत्री को 5 जून, 1936 के पत्र में लेख की माँग करते हुए कहते हैं ''इधर आपने बहुत दिनों से 'हंस' के लिए कोई लेख लिखने की कृपा नहीं की। अगर आप ही लोग उसका यों तिरस्कार करेंगे, तो वह चलेगा।''[10]

आखिर में 'हंस' का पहला अंक प्रकाशित होता है एवं 30 मार्च, 1930 को प्रकाशित 'हंस' के पहले अंक की सम्पादकीय 'हंस के जन्म पर; हंस की नीति' शीर्षक से 'हंस' की नीति को स्पष्ट करते हुए प्रेमचन्द कहते हैं ''हंस के लिए यह परम सौभाग्य की बात है कि उसका जन्म ऐसे शुभ अवसर पर हुआ है, जब भारत में एक नए युग का आगमन हो रहा है, जब भारत पराधीनता की बेड़ियों से निकलने के लिए तड़पने लगा है...कहते हैं, जब श्रीरामचन्द्र समुद्र पर पुल बाँध रहे थे, उस वक्त वहाँ छोटे-छोटे पशु-पक्षियों ने मिट्टी ला-लाकर समुद्र के पाटने में मदद की थी...भारत ने शान्तिमय समर की भेरी बजा दी है...हंस भी मानसरोवर की शान्ति छोड़कर अपनी नन्हीं सी चोंच में चुटकी-भर मिट्टी लिये हुए, समुद्र पाटने-आजादी के जंग में योग देने चला है। समुद्र का विस्तार देखकर उसकी हिम्मत छूट रही है; लेकिन संघ शक्ति ने उसका दिल मजबूत कर दिया है। समुद्र पटने के पहले ही उसकी जीवन-लीला समाप्त हो जाएगी, या वह अन्त तक मैदान में डटा रहेगा, यह तो कोई ज्योतिषी ही जाने; पर हमें ऐसा विश्वास है कि 'हंस' की लगन इतनी कच्ची न होगी।''[11]

प्रेमचन्द ने बड़ी उम्मीद एवं उत्साह से 'हंस' पत्रिका आरम्भ की थी। उन्हें विश्वास था, एक वर्ष के बाद पत्रिका इस स्थिति में आ जाएगी कि वह कुछ आर्थिक लाभ देने लगेगी, लेकिन उनके जीवन-पर्यन्त यह स्थिति नहीं आ सकी। 'हंस' के कुछ अंक निकलने के बाद ही उससे जमानत माँग ली गई, इस सम्पूर्ण घटनाक्रम का वर्णन डॉ. कमल किशोर गोयनका अपनी पुस्तक 'प्रेमचन्द : अनछुए प्रसंग' में इस प्रकार करते है—'हंस' के चार-पाँच अंक निकलने के बाद ही संयुक्त प्रान्त के मुख्य सचिव जगदीश प्रसाद ने 'इंडियन प्रेस आर्डिनेन्स, 1930' के उप-खंड 3 के अन्तर्गत सरस्वती प्रेस, बनारस से एक हजार रुपए की जमानत माँग ली। परिणामस्वरूप 'हंस' के जुलाई, 1930 के अंक का मुद्रण तत्काल रोककर प्रेस बन्द करना पड़ा और मुद्रित 32 पृष्ठों का ही अंक बनाकर ग्राहकों के पास भेजना पड़ा। प्रेमचन्द ने सरकार की इस दमनकारी आज्ञा के बावजूद इसी अंक में 'हंस' पर काले कानून का प्रहार, शीर्षक से एक व्यवस्थापकीय टिप्पणी छापी और उसमें अपने पाठकों को सम्बोधित करते हुए लिखा, ''हंस के पाठकों, प्रेमियों और हितैषियों को यह सुनकर दुःख होगा कि हम कुछ समय के लिए 'हंस' का प्रकाशन स्थगित कर रहे हैं—रोक रहे हैं। यह सब हम अपने मन से नहीं कर रहे हैं—नौकरशाही निर्मित काले कानून की कृपा से ही हमें ऐसा करना पड़ रहा है। कारण, 'हंस' के जन्मदाता 'सरस्वती प्रेस' से तारीख 29.08.1930 को एक हजार की जमानत माँग ली गई। हमने जमानत जमा करने से इनकार करके प्रेस

को बन्द कर दिया।'' साथ ही, उन्होंने इस टिप्पणी में विश्वास दिलाया कि डेढ़-दो महीने में सब कुछ ठीक हो जाएगा और वे 'हंस' का प्रकाशन फिर आरंभ कर देंगे। बाद में नवम्बर में जाकर यह प्रतिबंध हटा और सरस्वती प्रेस खुलने के साथ 'हंस का प्रकाशन आरम्भ हो गया।''[12] इस घटना की जानकारी प्रेमचन्द जैनेन्द्र कुमार को 25 नवम्बर, 1930 को लिखे पत्र में इस प्रकार देते हैं ''हंस के छः अंक निकल चुके हैं। सितम्बर और अक्टूबर से प्रेस और पत्रिका जमानत माँगे जाने के कारण बन्द पड़े रहे। प्रेस के आर्डिनेन्स उठ जाने पर फिर निकले हैं।''[13]

इसके पश्चात् सन् 1932 में प्रेस आर्डिनेन्स के अन्तर्गत फिर दो बार जमानत की जंजीरों में जकड़ने की चेष्टा की गई। 'हंस' के अप्रैल, 1932 के अंक में उनकी सम्पादकीय टिप्पणी 'दमन की सीमा' प्रकाशित हुई। इस टिप्पणी में प्रेमचन्द ने काँग्रेस पार्टी तथा उसके स्वराज्य आन्दोलन का समर्थन करते हुए अंग्रेजों की साम्राज्यवादी नीति, शोषण एवं भेद-नीति की कटु आलोचना की। इस सम्पादकीय टिप्पणी के कारण उनसे एक हजार की जमानत माँग ली गई, किन्तु प्रेमचन्द ने जमानत जमा न करके जून, 32 से 'हंस' का प्रकाशन स्थगित कर दिया। 4 जून, 1932 को 'प्रेस आर्डिनेन्स' की अवधि समाप्त होने पर भी जब 'हंस' से यह प्रतिबन्ध नहीं हटाया गया, तब 12 जुलाई को उन्होंने पुनः अपना घोषणा-पत्र दाखिल किया। बनारस के अंग्रेज कलेक्टर ने 2 अगस्त, 32 को पुनः एक हजार की जमानत माँगी, जिसका 9 अगस्त, 32 को उत्तर देते हुए लिखा कि प्रेस आर्डिनेन्स की अवधि समाप्त होने पर इस अवधि में घटित अपराध के लिए बाद में जमानत माँगना उचित नहीं है और वैसे भी 'हंस' के कालमों से राजनीति को दूर रखने का निर्णय किया है। इस पत्र के बाद अंग्रेज कलेक्टर ने 'हंस' के प्रकाशन की अनुमति दे दी।''[14] इसकी जानकारी जैनेन्द्र कुमार को अपने 15 अगस्त, 1932 को लिखे पत्र में देते हुए कहते हैं कि ''अच्छा मेरी गाथा सुनो। 'हंस' पर जमानत लगी। मैंने समझा था आर्डिनेन्स के साथ जमानत भी समाप्त हो जाएगी, पर नया आर्डिनेन्स आ गया और उसी के साथ जमानत भी बहाल कर दी गई।''[15]

इसी दौर में विभिन्न प्रकार की पारिवारिक एवं आर्थिक कठिनाइयाँ होते हुए भी प्रेमचन्द 'हंस' का 'आत्मकथा विशेषांक' निकालते हैं। 'हंस' पत्रिका के विश्वप्रसिद्ध विशेषांक आज भी हिन्दी साहित्य में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। 'आत्मकथा विशेषांक के अलावा 'हंस' के 'काशी अंक', 'प्रेमचन्द स्मृति अंक', 'एकांकी नाटक अंक', 'रेखाचित्र अंक', 'कहानी अंक', 'प्रगति अंक', 'आचार्य द्विवेदी अभिनन्दनांक', 'स्वदेशांक', 'शान्ति अंक' आदि विशेषांक हिन्दी साहित्य-जगत् में अपना विशेष स्थान रखते हैं। 'आत्मकथा विशेषांक' का हिन्दी साहित्य में कई प्रकार से ऐतिहासिक महत्त्व है। इस विशेषांक को निकाले जाने की सूचना अपने मित्र सद्गुरुशरण अवस्थी को 25 नवम्बर, 1932 को देते हुए कहते हैं ''हंस का जनवरी का अंक 'आत्मकथांक' होगा।

आप भी आपबीती कोई घटना या कोई Impression या कोई अनुभव लिख भेजने की कृपा कीजिएगा...आपके पास पत्र तो कार्यालय से आएगा ही पर मैं विशेष रूप से आग्रह कर रहा हूँ।''[16] 'हंस' का यह 'आत्मकथा अंक' अपने दौर में काफी लोकप्रिय हुआ था। यह अंक पौष-माघ 1988 वि. : जनवरी-फरवरी 1932 ई. को प्रकाशित हुआ था। इस आत्मकथा अंक में प्रेचमन्द के समकालीन लेखकों के 52 आत्मकथात्मक लेखों को संकलित कर प्रकाशित किया गया था। इन लेखों को लिखने वाले लेखकों में से कुछेक नाम इस प्रकार हैं :— श्रीयुत बाबू जयशंकर प्रसाद जी, पं. रामचन्द्र शुल्क जी, बाबू शिवपूजन सहाय जी, बाबू जैनेन्द्र कुमार जी, श्रीमती शिवरानी देवी जी धर्मपत्नी श्री प्रेमचन्द जी बी.ए., मुंशी दयानारायण निगम सम्पादक जमाना, श्रीयुत सुदर्शन जी एवं खुद प्रेमचन्द जी। इस अंक की शुरुआत में जयशंकर प्रसाद जी की एक कविता आत्मकथा के रूप में दर्शित की गई है जो अद्वितीय है। अंक में एक से बढ़कर एक आत्मकथात्मक लेखों को शामिल किया गया था जो प्रसिद्ध कथाकारों के व्यक्तित्व व कृतित्व को दर्शाते है, इसी ऐतिहासिक अंक में प्रेमचन्द जी की एकमात्र जीवनी जो खुद उन्होंने आत्मकथा के रूप में लिखी थी 'जीवन सार' शीर्षक से प्रकाशित हुई थी। इस अंक में प्रेमचन्द जी की धर्मपत्नी श्रीमती शिवरानी देवी का 'मेरी गिरफ्तारी' नाम से एक आत्मकथात्मक लेख शामिल है जो उनकी देश के प्रति समर्पणता व निष्ठा को बखूबी दर्शित करता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि प्रेमचन्द अपने पूरे जीवन में एक बार भी गिरफ्तार होकर जेल जाने के प्रमाण नहीं मिलते हैं, जबकि उनकी पत्नी कई बार गिरफ्तार होकर जेल गई थीं।

प्रेमचन्द 'हंस' का 'स्वदेशांक' संयुक्त रूप से अक्टूबर-नवम्बर, 1932 (वर्ष-3, अंक 1-2) निकालते हैं, जिसकी सूचना वे 18 जून, 1932 के पत्र में बनारसीदास चतुर्वेदी को देते हुए कहते हैं कि ''हंस का स्वदेशांक निकलने जा रहा है।''[17] इस विशेषांक के निकलने पर प्रेमचन्द को लगता है कि इस पर सरकार जमानत लगा सकती है, इसी डर को व्यक्त करते हुए वे दयानारायण निगम को 27 जून, 1932 के पत्र में लिखते हैं ''हंस का खास नम्बर निकालने का इरादा है। लेकिन जमानत का मसला है।''[18] इसी पत्र के ठीक एक महीने बाद दयानारायण निगम को 28 जुलाई, 1932 के पत्र द्वारा 'जागरण' साप्ताहिक भी निकालने की सूचना देते हुए कहते हैं ''हंस का नम्बर निकल रहा है। अब एक हफ्तेवार निकालने भी जा रहा हूँ। गालिबन 15 अगस्त से निकले।''[19] 25 अक्टूबर, 1932 को वे निगम को सूचित करते हैं ''हंस की जमानत दाखिल कर रहा हूँ। एक सूरत निकल आई है। 'जागरण' हफ्तेवार में खूब चपत पड़ रही है। मगर हिम्मत किए निकाले जाता हूँ। देखिए ऊँट किस करवट बैठता है।''[20] इस विशेषांक में प्रसिद्ध रचनाकारों की लगभग 42 देशप्रेम से ओतप्रोत रचनाओं को संकलित किया गया था। इस विशेषांक में प्रेमचन्द की प्रसिद्ध कहानी 'डामुल का कैदी' एवं आलेख 'नवयुग' को संकलित किया गया था।

'हंस' के अनेक उपयोगी विशेषांकों की परम्परा में 'काशी अंक', जिसका प्रकाशन अक्टूबर-नवम्बर, वर्ष 1933 में संयुक्तांक रूप में हुआ था, साहित्यिक पत्रकारिता के क्षेत्र में एक ऐतिहासिक उपलब्धि है। इस विशेषांक में अनेक शोधपूर्ण निबन्धों में पहली बार बहुत-सी नई बातें उद्घाटित हुईं। काशी की विगत और वर्तमान महत्ता, उसकी परम्परा, इतिहास और दर्शन एवं राजनीतिक तथा सामाजिक जीवन की प्रवृत्तियाँ आदि का स्पष्ट रूपदर्शन इस विशेषांक के अध्ययन के उपरान्त होने लगता है। इसकी सूचना अपने मित्र जैनेन्द्र कुमार को 27 सितम्बर, 1933 के पत्र में देते हुए कहते हैं ''हंस का काशी अंक निकल रहा है।''[21] एक महीने बाद ही फिर जैनेन्द्र को 24 अक्टूबर, 1933 को फिर लिखते हैं ''अक्टूबर का 'हंस' काशी अंक होगा। मगर बीस फार्म का निकालना पड़ा और नवम्बर का अंक भी उसमें मिलाना पड़ेगा। इन दोनों अंकों में नाक में दम है...मैंने सोच लिया है जनवरी तक और देखूँगा। अगर उस वक्त 'जागरण' कुछ ढंग पर न आया तो इसे बन्द कर दूँगा।''[22] आगे प्रेमचन्द कहते हैं ''जी तो चाहता है कि 'हंस' का दाम बढ़ाकर पाँच रुपए कर दूँ और एक सौ पृष्ठों का निकालूँ और तुम उसका सम्पादन करो।''[23] प्रेमचन्द श्रीराम जी को 28 अक्टूबर, 1933 को लिखते हैं कि ''मैंने शायद आपको यहाँ पर बतलाया था कि हम लोग अक्टूबर में 'हंस' का काशी निकालने जा रहे हैं।''[24]

डॉ. रत्नाकर पाण्डेय अपने आलेख 'हंस के काशी अंक का अनुशीलन' में इस विशेषांक के सम्बन्ध में कहते हैं ''इस काशी विशेषांक द्वारा 'हंस' की विशिष्ट प्रतिष्ठा और प्रेमचन्द जी के सम्पादकीय पुरुषार्थ की प्रशंसा हिन्दी जगत् में हुई। साहित्य की सुदृढ़ दीवार बनाकर चित्रपट की भाँति प्रेमचन्द जी ने सारे काशी को इस विशेषांक के पन्नों में भर दिया है। यदि इस विशेषांक में सन् 33 के उपरान्त की काशी के इतिहास और सांस्कृतिक परम्परा को किसी प्रकार संयुक्त कर दिया जाए तो काशी पर प्रकाशित अब तक की सभी उपलब्धियों में यह बेजोड़ कृति सिद्ध होगा। जिन दिनों 'हंस' का यह अंक प्रकाशित हुआ था उन दिनों हिन्दी के साहित्यिक मासिक पत्रों को विशेषांक निकालने का छूत रोग लग गया था। तत्कालीन अधिकांश विशेषांकों को देखकर मन में स्वभावतः विकृति होने लगती है। पर इस स्वस्थ विशेषांक को देखकर सारी बीमारी का निदान और उपचार हो जाता है...काशी विशेषांक उन महान ग्रन्थों में है, जिनकी महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिकता सदैव अंकित रहेगी। काशी अंक जिस समय प्रकाशित हुआ था उस समय ही वह संग्रहणीय था। आज बहुत खोजने पर भी कुछ विद्वानों और दो-चार हिन्दी के प्राचीन संग्रहालयों में वह अपने पुनः अध्ययन की प्रतीक्षा कर रहा है।''[25]

प्रेमचन्द ने बड़े उत्साह एवं उल्लाह के साथ 'काशी अंक' को प्रकाशित किया, लेकिन उसने आर्थिक संकट को और बढ़ा दिया। 9 जनवरी, 1934 को अपने अभिन्न मित्र दयानारायण निगम को सारी कथा कहते हुए लिखा कि ''हंस का काशी नम्बर

तो आपको मिल गया है? आप जरा इसकी तनकीद करवा दीजिएगा। इस नम्बर पर मेरे तकरीबन 1200 रु. खर्च हो गए। 400 रु. का तो कागज लग गया। 200 रु. के ब्लाक और साढ़े चार सौ छपाई। महसूल डाक वगैरा में 200 रु. खर्च हो गए। ख्याल था कि इस नम्बर से पर्चे की इशाअत में माकूल इजाफा होगा। अन्दाजा था कि दो-ढाई सौ खरीदार बढ़ जाएँगे। मगर नतीजा बिल्कुल बर-अक्स। 500 वी.पी. गए थे, उनमें से 300 वापिस आ गए। दफ्तर में खस्ताहाल रिसालों का ढेर लगा हुआ है। 700 रु. मिले, मगर कागजवालों के 2000 रु. बाकी थे। ब-मुश्किल 500 रु. दे सका। 1500 रु. कागज का बाकी पड़ा हुआ है। बस यूँ समझ लीजिए कि बधिया बैठ गई। बड़ी करारी चपत पड़ी। चुँधिया गया हूँ। लीडर प्रेसवालों से गुफ्तगू कर रहा हूँ कि वह मेरे सारे कारोबार को अपने में शामिल कर लें। दो दफा रायकृष्ण जी से मिल भी चुका हूँ। हिम्मत पस्त हो गई है। इस चार साल में दोनों रिसालों के पीछे 4000 रु. से ज्यादा नुकसान उठा चुका। मेहनत जो सिर्फ की वह अलग, प्रेस को जो खसारा हुआ वह अलग।''[26] इसकी सूचना 14 फरवरी, 1934 को जैनेन्द्र कुमार को भी देते हुए कहते हैं ''काशी अंक निकला, चार सौ वी.पी. गए, एक सौ पचहत्तर वसूल हुए, दो सौ पच्चीस वापिस आए। बस बधिया बैठ गई। मेरा अन्दाजा था कि तीन सौ वी.पी. जरूर वसूल होंगे।''[27] इन आर्थिक परेशानियों का असर उनकी याददाश्त पर भी स्पष्ट दिखाई देता है, क्योंकि दयानारायण निगम को 500 वी.पी. जाने की एवं 300 वी.पी. आने की कहते हैं और जैनेन्द्र कुमार को चार सौ वी.पी. जाने की सूचना देते हैं तथा एक सौ पचहत्तर वसूल होने की एवं 225 वी.पी. आने की कहते हैं। स्पष्ट है कि प्रेमचन्द किन आर्थिक कठिनाइयों से जूझ रहे थे।

फिर भी प्रेमचन्द तमाम आर्थिक कठिनाइयों को झेलते हुए किसी प्रकार 'हंस' को निकाले जा रहे थे। 'हंस' बराबर निकल रहा था, लेकिन हानि भी उसी रूप में हो रही थी। इसी बीच 2 मई, 1935 को बम्बई से कन्हैयालाल मुंशी का पत्र मिला। मुंशी का विचार था कि एक अखिल भारतीय अन्तर्प्रान्तीय साहित्य-परिषद् की स्थापना की जाए और हिन्दी भाषा के माध्यम से विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य को किसी पत्रिका के द्वारा प्रकाशित किया जाए। 18 मई, 1935 को कन्हैयालाल मुंशी ने अन्तर्प्रान्तीय साहित्य परिषद की रूपरेखा भेजी तथा लिखा कि इसके लिए 'हंस' का उपयोग किया जा सकता है। प्रेमचन्द ने तुरन्त कन्हैयालाल मुंशी को उत्तर दिया और लिखा कि वे स्वयं प्रान्तीय साहित्य को हिन्दी भाषा के द्वारा पाठकों तक पहुँचाने के समर्थक रहे हैं। उन्होंने इस कार्य के लिए 'हंस' को भी समर्पित करने की स्वीकृति प्रदान की।[28] इसकी सूचना बनारसीदास चतुर्वेदी को 25 मई, 1935 के दिन लिखे पत्र में इस प्रकार देते हैं ''श्री मुंशी ने मुझको सुझाव दिया है कि 'हंस' परिषद् का मुखपत्र बना दिया जाए और मैंने सधन्यवाद् इस सुझाव को मान लिया है।''[29]

प्रेमचन्द 1 जुलाई, 1935 को बनारस से बम्बई के लिए रवाना हुए जिससे कन्हैयालाल मुंशी के साथ 'हंस लिमिटेड' का रजिस्ट्रेशन कराया जा सके। बम्बई से लौटने के बाद प्रेमचन्द ने इस परिवर्तन की सूचना सभी मित्रों को दी। 17 अगस्त, 1935 को प्रेमचन्द पं. बनारसीदास चतुर्वेदी को लिखते हैं कि ''हंस अब एक कम्पनी के हाथ में दे दिया गया है और कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी और मैं इसके अवैतनिक सम्पादक हैं।''[30] इसके सम्बन्ध में प्रेमचन्द 'हंस' के जुलाई 1935 में प्रकाशित अपनी सम्पादकीय 'हंस नए रूप में' कहते हैं कि''...हमने निश्चय किया है कि आगामी अक्टूबर से हिन्दी के सुप्रसिद्ध मासिक पत्र हंस को इस नए रूप में प्रकाशित किया जाए। 'हंस' अब एक लिमिटेड कम्पनी द्वारा प्रबन्धित रूप में निकलेगा, जो इसी उद्देश्य से बनाई गई है। उसमें प्रतिमास सौ पृष्ठ होंगे और उसका वार्षिक मूल्य पाँच रुपए होगा।''[31]

इस व्यवस्था के अनुसार भारतीय साहित्य का मुख्य पत्र के रूप में 'हंस' का पहला अंक अक्टूबर, 1935 में प्रकाशित हुआ। इस अंक में पहली बार प्रेमचन्द के साथ कन्हैयालाल मुंशी का नाम भी सम्पादक के रूप में प्रकाशित हुआ।[32] 'हंस' के अगस्त-सितम्बर, 1935 में प्रकाशित अपनी सम्पादकीय 'हंस का नया रूप' में प्रेमचन्द अपने पाठकों को आगामी परिवर्तन की सूचना देते हुए कहते हैं ''आज से छः साल पहले, जब 'हंस' का जन्म हुआ तभी से, उसने भारत की अन्य भाषाओं की मासिक प्रगति से अपने पाठकों को परिचित कराने का प्रयत्न किया है। यद्यपि साधनों के अभाव में उसे इस उद्देश्य में इच्छित सफलता नहीं मिल सकी, पर यह उद्देश्य हमेशा उसके सामने रहा...अगर भारत को अपनी राष्ट्रीयता सम्पूर्ण रीति से प्राप्त करना है, तो उसे भारतीय साहित्य का संगठन और प्रयास करना होगा। इस महत्त्वपूर्ण कार्य का भार 'हंस' ने अपने ऊपर लिया है। एक अक्टूबर से 'हंस' भारतीय साहित्य के मुखपत्र के रूप में निकलेगा। उसमें एक सौ बारह पृष्ठ होंगे और उसका वार्षिक मूल्य छः रुपए और अर्द्ध-वार्षिक तीन रुपए आठ आने होगा। उसका सम्पादन श्रीयुत कन्हैयालाल मुंशी और मेरे हाथों में होगा...हंस के प्रकाशन के लिए बम्बई की एक लिमिटेड कम्पनी बनाई गई है और अब वही उसका प्रकाशन करेगी। 'हंस' पूर्ववत् हंस कार्यालय, बनारस से निकलेगा। उसका एक कार्यालय एक सौ ग्यारह, एस्प्लेनेड रोड, बम्बई में भी हे। हमने यह आयोजन केवल राष्ट्र-भाषा और राष्ट्र-साहित्य की सेवा के उद्देश्य से किया है...अतएव हम अपने प्रेमी पाठकों से यह आशा रखते हैं कि जैसे अब तक उन्होंने 'हंस' को अपनाया है, उसी भाँति उसको अपनाए रहेंगे और केवल ढाई रुपए की मूल्यवृद्धि के कारण उससे विमुख न होंगे।''[33]

प्रेमचन्द ने जिन शर्तो पर 'हंस' सौंपा था, उनमें एक शर्तें यह थी कि 'हंस' का मुद्रण उनके प्रेस 'सरस्वती प्रेस' में ही होगा और 'हंस लिमिटेड' मुद्रण के लिए व्यापारिक दरों से भुगतान करेगी...परिषद् के कुछ सदस्य यह अनुभव कर रहे थे कि

सरस्वती प्रेस में 'हंस' का मुद्रण कराने पर अधिक खर्च होता है। कन्हैयालाल मुंशी ने स्वयं प्रेमचन्द को इस स्थिति से अवगत कराया और 4 जुलाई, 1936 को भारतीय साहित्य परिषद की कार्यकारिणी की बैठक बुलाई गई जिसमें इस समस्या का हल निकाला जा सके। 22 जून, 1936 को बम्बई में कन्हैयालाल मुंशी और काका कालेलकर ने परस्पर विचार-विमर्श किया और इसके लिए तार देकर प्रेमचन्द को भी बुलाया। प्रेमचन्द बम्बई नहीं गए, क्योंकि वे 4 जुलाई को वर्धा जाना चाहते थे।''[34] 2 जुलाई, 1936 को जैनेन्द्र कुमार को प्रेमचन्द लिखते हैं ''4 को वर्धा में भारतीय साहित्य परिषद की मीटिंग है। हंस लिमिटेड 'हंस को परिषद के हाथ सौंपेगा। छपाई आदि का प्रबन्ध काका खुद करेंगे, मेरा केवल नाम रहेगा सम्पादकों में। यहाँ छापने में उन लोगों के विचार से खर्च ज्यादा पड़ता है। अब तक कम्पनी ने मुझे कुल 1400 रुपए दिए हैं। मगर मुझे झंझट से निजात मिल जाएगी।''[35]

4 जुलाई, 1936 को वर्धा में हुई मीटिंग में तय हुआ कि 'हंस' का प्रकाशन मुद्रण सरस्वती प्रेस, बनारस से हटाकर सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली को सौंप दिया जाए। इससे परिषद् को 50 रुपए मासिक की बचत हो सकेगी। यह सूचना मिलने पर प्रेमचन्द ने तुरन्त फैसला किया कि 'हंस' से पूर्ण रूप से सम्बन्ध तोड़ लेना चाहिए। इन परिस्थितियों से आहत प्रेमचन्द 27 जुलाई, 1936 को अख्तर हुसैन 'रायपुरी' को लिखते हैं कि ''हंस से तो मेरा ताल्लुक टूट गया। मुफ्त की सरमग्जी, बनियों के साथ काम करके शुक्रिये की जगह यह सिला मिला कि तुमने 'हंस' में ज्यादा रुपया सर्फ कर दिया इसके लिए मैंने दिलोजान से काम किया, बिल्कुल अकेला, अपने वक्त और मेहनत का इतना खून किया, इसका किसी ने लिहाज न किया। मैंने 'हंस' उन लोगों को इस ख्याल से दिया था कि वह मेरे प्रेस में छपता रहेगा और मुझे प्रेस की जानिब से गुना बेफिक्री रहेगी लेकिन अब वह दिल्ली से सस्ता साहित्य मंडल की जानिब से निकलेगा और इस तबादले में परिषद् को अन्दाजा पचास रुपए महीने की बचत हो जाएगी। मैं भी खुश हूँ।''[36]

प्रेमचन्द इसकी सूचना भदन्त आनन्द कौसल्यायन को 5 अगस्त, 1936 को लिखे पत्र में देते हुए कहते हैं ''हंस सितम्बर से सस्ता साहित्य मंडल, देहली से प्रकाशित होगा। मैंने उसके सम्पादन से इस्तीफा दे दिया है।''[37] प्रेमचन्द ने 'हंस' से इस्तीफा दे दिया, लेकिन दो मास में ही कुछ ऐसी घटनाएँ घटित हुईं कि 'हंस' फिर प्रेमचन्द के पास लौट आया। हुआ यह कि 'हंस के जून-जुलाई अंकों में सेठ गोविन्ददास का नाटक 'सिद्धान्त-स्वातन्त्र्य' प्रकाशित हुआ। अंग्रेजी सरकार को इसमें राजद्रोह की गन्ध मिली और उन्होंने 'हंस लिमिटेड' को तुरन्त एक हजार की जमानत जमा कराने के आदेश दिए। महात्मा गाँधी जमानत देकर पत्रिका निकालने के विरोधी थे। उनके आदेश पर 'हंस लिमिटेड' ने जमानत देना अस्वीकार कर दिया. ..अब प्रेमचन्द के लिए 'हंस, को पुनः प्राप्त करने का रास्ता साफ हो गया। उन्होंने

तुरन्त गवर्नर को लिखा कि वे एक हजार रुपए जमा करके 'हंस' को पुनः निकालना चाहते हैं...प्रेमचन्द ने 'हंस' की जमानत कराई और सरकार से उसे पुनः प्रकाशित करने की अनुमति मिल गई। मानसिक और शारीरिक कष्ट होने पर भी 'हंस' का सितम्बर अंक प्रकाशित हुआ जिस पर पुनः सम्पादक के रूप में प्रेमचन्द का नाम प्रकाशित हुआ। 'हंस' के इसी अंक में उनका प्रसिद्ध लेख 'महाजनी सभ्यता' भी छपा. ..प्रेमचन्द के जीवन का सबसे बड़ा सन्तोष यही था कि उन्हें 'हंस' पुनः मिल गया, परन्तु यह भाग्य की विडम्बना ही थी कि वे 'हंस' के लिए और जीवित न रह सके। 'हंस' का सितम्बर, 1936 का अंक निकालने के पश्चात् 8 अक्टूबर, 1936 को उनका जीवनदीप सदैव के लिए बुझ गया।''[38]

इस सम्पूर्ण घटनाक्रम को 12 अगस्त, 1936 को 'हंस' में प्रकाशित सम्पादकीय 'हंस' से जमानत—'एक हजार रुपए नकद, प्रकाशन बन्द, में प्रेमचन्द इस प्रकार व्यक्त करते हैं ''मेरी रुग्णता के कारण अगस्त का 'हंस' यों ही कछ विलम्ब से प्रकाशित हो रहा था कि इधर बीच में ही युक्त प्रान्तीय सरकार ने जून और जुलाई के अंकों में श्री सेठ गोविन्ददास जी (जबलपुर) के प्रकाशित 'सिद्धान्त-स्वातन्त्र्य' नाटक को आपत्तिजनक बतलाते हुए एक हजार की नगद जमानत तलब कर ली है, जिसको 15 अगस्त तक जमा करना अनिवार्य था, किन्तु 'हंस' की साम्प्रतिक परिस्थिति पर विचार करते हुए इस जमानत की रकम जमा करने में इस समय विवशता है। ऐसी स्थिति में यह समुचित जान पड़ता है कि 'हंस' का प्रकाशन बन्द ही कर दिया जाए, इसलिए आज तक जितने फार्म छप चुके थे, वहीं पर 'हंस' का छपना रोककर इस अंक को समाप्त किया जा रहा है। आशा है हमारे दयालु ग्राहक, लेखकादि बन्धु सब बातों का पूर्णतः अनुमान कर 'हंस', की इस अनन्तकालीन जुदाई को धैर्य के साथ बर्दाश्त करेंगे और आज तक की सब प्रकार की त्रुटियों को क्षमा करेंगे। साथ ही एक प्रार्थना और है। वह यह कि अब भारतीय साहित्य-परिषद् का प्रकाशन कार्य दिल्ली से होगा। अतः कोई भी सज्जन हमारे पते पर पत्र-व्यवहार न कर सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली के पते पर ही करने की कृपा करें।''[39]

इस सम्बन्ध में प्रेमचन्द 31 अगस्त, 1936 को अपने मित्र वीरेश्वर सिंह को 'हंस' की जमानत जमा करने के विषय में बताते हुए कहते हैं ''तुमने तो शायद अखबारों में तो पढ़ा ही होगा कि 'हंस' से एक हजार की जमानत माँग ली गई तथा उसके मालिको ने (दि हंस लिमिटेड के डाइरेक्टरों ने) उसका प्रकाशन बन्द कर दिया। अब मैं उसे जमानत देकर निकाल रहा हूँ। सितम्बर का अंक प्रेस में है।''[40] इन्द्र वसावड़ा को 13 सितम्बर, 1936 के पत्र में कहते हैं ''मैं जमानत जमा करके फिर 'हंस' निकालने जा रहा हूँ।''[41]

प्रेमचन्द की मृत्यु के बाद 'हंस' का 'प्रेमचन्द : स्मृति अंक' (मई, 1937 सम्पादक—बाबूराव विष्णु पराड़कर) प्रकाशित होता है, इसके सम्बन्ध में भी पाठकों

का परिचय कराना आवश्यक है। यह अंक प्रेमचन्द की मृत्यु के ठीक आठ महीने बाद प्रकाशित हुआ था। इस विशेषांक में अनेक विद्वान रचनाकारों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से प्रेमचन्द को अश्रूपूरित श्रद्धांजलि अर्पित की थी। इस अंक में 47 विद्वान रचनाकारों के लेखों को शामिल कर इसका महत्त्व बढ़ा दिया था। इस विशेषांक का पहला ही लेख प्रेमचन्द जी की धर्मपत्नी श्रीमती शिवरानी देवी द्वारा लिखित 'मैं लुट गई' शीर्षक से संकलित किया गया था जो एक पत्नी के नजरिए से अपने पति को एक छोटी-सी श्रद्धांजलि थी। इस लेख को पढ़ते समय पाठक भाव-विभोर हुए बगैर नहीं रह सकता। प्रत्येक पाठक को एक बार अवश्य ही इस विशेषांक को पढ़ना चाहिए। इस अंक का सम्पादन बाबूराव विष्णु पराड़कर जी ने किया था, जो खुद एक सिद्धहस्त लेखक व पत्रकार थे। इस सम्बन्ध में श्री लक्ष्मीशंकर व्यास के सम्पादन में प्रकाशित पुस्तक 'पराड़कर जी और पत्रकारिता' में अपने आलेख 'प्रेमचन्द और पराड़कर' में प्रेमचन्द स्मृति अंक के सम्बन्ध में स्वयं पराड़कर जी अपने विचार 'क्षमा याचना' शीर्षक से इस प्रकार व्यक्त करते हैं ''मैं बीमार अस्पताल में पड़ा था जब जैनेन्द्र कुमार ने आकर कहा—'हंस' का प्रेमचन्द स्मृति अंक आपको निकालना होगा। समय नहीं था, शक्ति भी नहीं, पर अनुरोध टाल न सका। स्वीकार कर लिया। पर जो शंका थी वही हुआ। छः महीने से विघ्न परम्परा घेरे है। अभी तक छुट्टी नहीं पाई है। इसी अवकाश में जैसे मन आया, अंक तो निकाल दिया। पर सबसे अधिक खेद की बात यह है कि प्रेमचन्द जी की उज्ज्वल कीर्ति की तुलना में यह अंक किसी काम का नहीं हुआ। प्रेमचन्द स्मृति अंक के लेखों का सम्पादन तथा सम्पादकीय लिखने के अतिरिक्त पराड़कर जी ने स्वयं भी प्रेमचन्द जी के सम्बन्ध में इसी विशेषांक में एक महत्त्वपूर्ण लेख लिखा। इस लेख का शीर्षक है—'प्रेमचन्द की कृति'। यह लेख सभी लेखों के अन्त में है।''[42] ''इस स्मृति अंक के सम्पादन के सिलसिले में प्रेमचन्द जी के ज्येष्ठ पुत्र श्री श्रीपतराय ने पराड़कर जी को अनेक पत्र लिखे। इनमें दोनों साहित्य महारथियों के हार्दिक सम्बन्ध का परिचय तो मिलता ही है, साथ-साथ यह भी विदित होता है कि प्रेमचन्द जी के निधन के बाद पराड़कर जी की इच्छा थी कि 'हंस' की अधिकाधिक उन्नति हो।''[43]

प्रेमचन्द की मृत्यु के पश्चात् प्रसिद्ध कथाकार जैनेन्द्र कुमार और प्रेमचन्द की पत्नी शिवरानी देवी प्रेमचन्द संयुक्त रूप से 'हंस' के सम्पादक रहे। जैनेन्द्र और शिवरानी देवी के बाद इसके सम्पादक शिवदान सिंह चौहान और श्रीपतराय और उसके बाद अमृतराय और तत्पश्चात् नरोत्तम नागर रहे। केई दिनों बाद वर्ष 1959 में 'हंस' का एक वृहद् संकलन सामने आया जिसमें बालकृष्ण राव और अमृतराय के संयुक्त सम्पादन में आधुनिक साहित्य एवं उससे सम्बन्धित नवीन मूल्यों पर विचार किया गया था। 'हंस' काफी लम्बे समय तक बन्द रहने के पश्चात् प्रेमचन्द की मृत्यु की अर्धशती पर वर्ष 1986 में इसको पुनः शुरू किया गया। इस बार इसके सम्पादन

और प्रकाशन का दायित्व वरिष्ठ कथाकार, उपन्यासकार श्री राजेन्द्र यादव जी ने सँभाला, जिसे वे 27 साल से ज्यादा समय तक अबाध रूप से निबाहते रहे। 28 अक्टूबर, 2013 को अपनी मृत्यु तक श्री राजेन्द्र यादव ने हंस के 325 अंकों का सम्पादन किया। इस दौरान साहित्यिक पत्रकारिता के क्षेत्र में 'हंस' एक परिघटना की तरह स्थापित हुई। राजेन्द्र यादव ने इसे कथा-पत्रिका के कलेवर से आगे बहुत-सी बहसों का केन्द्र भी बनाया। ये बहसें समाज के वंचित तबकों के सम्बन्ध में थीं जिनके जरिए अल्पसंख्यकों, दलितों और स्त्रियों के हक के सवाल को वे हिन्दू समाज की बनावट के बुनियादी बिन्दुओं तक ले गए। अपने इन्हीं रेडिकल तेवरों के कारण हंस कई बार उग्रपन्थियों के निशाने पर भी आई और बहुत से लोगों को राजेन्द्र यादव 'विवादप्रिय' सम्पादक भी लगे।

'हंस' श्री यादव की उत्कृष्ट सम्पादकीय की वजह से आम जनमानस में बेहद लोकप्रिय हुआ व आज भी इस पत्र को श्री यादव की दमदार सम्पादकीय के लिए याद किया जाता है। इस दौरान 'हंस' के कई विशेषांक काफी लोकप्रिय हुए। 'हंस' के अतिथि सम्पादकों द्वारा निकाले गए 'औरत उत्तरकथा अंक', 'मुसलमान अंक', 'इलेकट्रॉनिक मीडिया अंक, एवं 'सिनेमा अंक' आदि अंक पाठकों के बीच अत्यन्त लोकप्रिय हुए। राजेन्द्र यादव की मृत्यु के तत्काल बाद उन पर केन्द्रित 'स्मृति अंक' भी निकाला गया। इधर हंस के कई विषेषांक देखने को मिले जिनकी जानकारी स्थानाभाव के कारण शामिल नहीं की जा रही है। फिलहाल इस पत्रिका के सम्पादन का भार कथाकार संजय सहाय सँभाल रहे हैं। हम उम्मीद करते हैं कि वे पूर्व की भाँति ही इस लोकप्रिय पत्र की गरिमा बनाए रखें व इसकी विचारोत्तक सामग्री से आम जनमानस का ज्ञानवर्धन करते रहें।

'हंस' में प्रकाशित कहानियाँ—हंस में प्रेमचन्द की 27 कहानियाँ प्रकाशित हुईं, जिनका विवरण इस प्रकार है :—(1) जुलूस, मार्च 1930 (2) समर-यात्रा, अप्रैल, 1930 (3) शराब की दुकान, मई 1930 (4) मैकू, जून 1930 (5) आहुति, नवम्बर 1930 (6) ढपोरशंख, जनवरी-मार्च 1930 (7) जेल, फरवरी 1930 (8) तावान, सितम्बर 1931 (9) दो बैलों की कथा, अक्टूबर 1931 (10) लेखक, नवम्बर 1932 (11) गिला, अप्रैल 1932 (12) डामुल का कैदी, अक्टूबर-नवम्बर 1932 (13) नेउर, जनवरी 1933 (14) गुल्ली-डंडा, फरवरी 1933 (15) बालक, अप्रैल 1933 (16) कैदी, जुलाई 1933 (17) मनोवृत्ति, मार्च 1934 (18) जादू, अप्रैल-मई 1934 (19) रियासत का दीवान, अप्रैल-मई 1934 (20) दूध का दाम, जुलाई 1934 (21) मुफ्त का यश, अगस्त 1934 (22) बासी भात में खुदा का साझा, अक्टूबर 1934 (23) बड़े भाई साहब, नवम्बर 1934 (24) जीवन का शाप, जून 1935 (25) लॉटरी, नवम्बर 1935 (26) रहस्य, सितम्बर 1936 एवं (27) कश्मीरी सेब, अक्टूबर 1936 आदि।

उपर्युक्तानुसार 'हंस' पत्रिका के सम्बन्ध में काफी कुछ कहा जा चुका है। यह आलेख पत्रिका को जीवित बनाए रखने हेतु एक कथाकार की संघर्ष-यात्रा का संक्षेप में विवरण है। नीचे 'जागरण' हिन्दी साप्ताहिक के सन्दर्भ में विवरण प्रस्तुत किया गया है।

'जागरण' साप्ताहिक पत्रिका—बाबू शिवपूजन सहाय के सम्पादकत्व में 11 फरवरी, 1932 को पाक्षिक पत्रिका के रूप में 'जागरण' का प्रकाशन आरम्भ हुआ था। यह क्राउन चौपेजी के आकार की चौबीस पृष्ठों की पत्रिका थी। इसके प्रकाशक प्रख्यात साहित्यकार पंडित विनोद शंकर व्यास के छोटे भाई प्रमोद शंकर व्यास थे। यह पत्रिका छः माह तक चली एवं इसके कुल बारह अंक निकले। छः महीने बाद यह पत्रिका प्रेमचन्द ने ले ली और उन्होंने इसका साप्ताहिक प्रकाशन किया।

पंडित विनोद शंकर व्यास 'जागरण' पत्रिका प्रेमचन्द को देने से पूर्व यह शर्त रखते हैं कि आप पत्रिका को बेसक निकालें, लेकिन पत्रिका का प्रकाशन यदि बन्द होता है या स्थगित होता है। ऐसी परिस्थति में मुझे यह अधिकार होगा कि मैं उसका प्रकाशन करूँ। प्रेमचन्द सभी शर्तों को पूर्ण करने का आश्वासन पंडित विनोद शंकर व्यास को देते हैं, तत्पश्चात् व्यास जी 19 जुलाई, 1932 के पत्र में प्रेमचन्द को अपनी शर्त को पुनः प्रकट करते हुए कहते हैं ''जागरण के सम्बन्ध में अपने विचारों को मैं आपके सम्मुख प्रकट कर चुका हूँ। मैं उसी पर अटल हूँ। मेरी हार्दिक इच्छा यही है कि आप उसे प्रकाशित करें।''[44] इस पत्र के जबाव में प्रेमचन्द कहते हैं कि ''मैं समझता हूँ 15 अगस्त से पहले पत्र निकालना साध्य होगा...।''[45] सभी शर्तों का पालन होने के बाद पत्रिका प्रकाशन की सूचना अपने प्रिय मित्र जैनेन्द्र कुमार को 15 अगस्त, 1932 के पत्र में देते हुए प्रेमचन्द कहते हैं ''इस बीच मैंने 'जागरण' को ले लिया। 'जागरण' के बारह अंक निकले लेकिन ग्राहक संख्या दो सौ से आगे न बढ़ी। विज्ञापन तो व्यास जी ने बहुत किया लेकिन किसी वजह से पत्र न चला। उन्हें उस पर लगभग पन्द्रह सौ का घाटा रहा। वह अब बन्द करने जा रहे थे। मुझसे बोले, यदि आप इसे निकालना चाहें तो निकालें, मैंने उसे ले लिया। साप्ताहिक रूप में निकालने का निश्चय कर लिया है। पहला अंक जन्माष्टमी से निकलेगा।''[46]

22 अगस्त, 1932 को प्रेमचन्द के सम्पादकत्व में 'जागरण' का पहला अंक प्रकाशित हुआ। पहले अंक की सम्पादकीय 'जागरण का नया रूप' में पत्र के सम्बन्ध में जानकारी देते हुए प्रेमचन्द कहते हैं ''जागरण ने साहित्यिक पत्र के रूप में जन्म लिया था और अपनी बाल्यावस्था के बारह अंक पूरे करके अब वह विस्तृत क्षेत्र में आता है...कुछ सज्जन कहेंगे कि हिन्दी में कई अच्छे साप्ताहिक पत्र हैं और वह हिन्दी की यथार्थ सेवा कर रहे हैं, फिर एक नए साप्ताहिक की क्या जरूरत थी। ऐसे सज्जनों से हमारा निवेदन यही है कि काशी की तीर्थभूमि से जो हिन्दी-संस्कृति का केन्द्र है, इस समय एक भी साप्ताहिक पत्र ऐसा नहीं निकलता, जिसकी अन्य भाषाओं के पत्रों

से तुलना की जा सके...काशी को नागरी प्रचारिणी सभा पर गर्व है...हिन्दू विश्वविद्यालय पर गर्व है कि हिन्दी साहित्य के उपासक जितने काशी में हैं उतने और किसी एक स्थान में न होंगे। फिर भी काशी में कोई ऐसा साप्ताहिक पत्र नहीं है। क्या यह काशी के लिए गर्व की बात है, काशी जैसे नगर में हिन्दी का एक भी साप्ताहिक पत्र न हो।''[47]

'जागरण' के प्रथम अंक के आवरण पृष्ठ पर भगवान श्रीकृष्ण एवं अर्जुन का रथारूढ़ चित्र एवं जयशंकर प्रसाद की कविता 'वृन्दावन बन जाने दो' प्रकाशित हुई। इसका वार्षिक मूल्य साढ़े तीन रुपए एवं एक अंक का मूल्य एक आना था। यह पत्रिका लोकप्रिय हुई पर लोकप्रिय होना उसे नियमित चला पाना दोनों अलग-अलग बात है। 26 अक्टूबर, 1932 के अंक में मोहन सिंह सेंगर की 'उसका अन्त' शीर्षक कहानी के प्रकाशन पर 'जागरण' से दो हजार की जमानत तलब कर ली। इसकी जानकारी 5 दिसम्बर, 1932 को 'जागरण' में प्रकाशित अपनी सम्पादकीय टिप्पणी 'जागरण और प्रेस से एक-एक हजार की जमानत' में प्रेमचन्द कहते हैं ''जागरण के 26 अक्टूबर के अंक में एक कहानी 'उसका अन्त' नामक प्रकाशित की गई थी। सरकार को उस कहानी में कुछ शब्द आपत्तिजनक मालूम हुए। इसलिए उसने एक हजार रुपए की जमानत 'जागरण' से और एक हजार की प्रेस से माँगी है। 'हंस' भी जमानत की समस्या से अभी साँस लेने की फुरसत न हुई थी कि यह दूसरा प्रहार हुआ।''[48] इसकी जानकारी वे जैनेन्द्र कुमार को 7 दिसम्बर, 1932 के पत्र में देते हैं ''सरस्वती प्रेस और 'जागरण' से 26.10.32 को 'उसका अन्त' नाम की कहानी के दंड में दो हजार की जमानत माँगी। बहुत परेशान हुआ, भागा हुआ लखनऊ पहुँचा, वहाँ Chief Secretary से मिलकर कहानी का आशय समझाया और अपनी Loyalty के प्रमाण दिए। अब आशा है जमानत मन्सूख हो जाएगी। जरा-जरा-सी बात में गर्दन पर छुरी चल जाती है।''[49] इसी पत्र में अपनी आर्थिक कठिनाइयों की चर्चा करते हुए कहते हैं ''जागरण बड़ा पेटू है और 'हंस' पैसे खाने में शेर।''[50] दयानारायण निगम को भी 7 दिसम्बर, 1932 के पत्र में सूचना देते हुए कहते हैं ''यहाँ 1 तारीख की सरस्वती प्रेस और 'जागरण' से दो हजार की जमानत तलब हो गई।''[51]

प्रेमचन्द द्वारा कहानी का आशय सरकार को समझाने पर सरकार द्वारा जमानत मन्सूख कर ली। इस पर सरकार को धन्यवाद देते हुए 26 दिसम्बर, 1932 को 'जागरण' में प्रकाशित अपनी सम्पादकीय 'खेद प्रकाश' में कहते हैं ''जागरण में 'उसका अन्त' नामक कहानी छपने के कारण यू.पी. गवर्नमेंट ने हमसे जो जमानत माँगी थी वह कृपा कर उसने मन्सूख कर दी है। हम हाकिम जिला मि. पन्नालाल आई.पी.एस. और यू.पी. गवर्नमेंट को इस कृपा के लिए धन्यवाद देते हैं। हमें खेद है कि कहानी का भाव समझने में हमसे भूल हुई। हम आतंकवाद के कभी समर्थक नहीं रहे और हमारा सिद्धान्त है कि आतंकवाद से देश की बहुत बड़ी हानि हो रही है। हम

गवर्नमेंट को विश्वास दिलाते हैं कि भविष्य में ऐसी कोई चीज न प्रकाशित करेंगे जिसका आतंकवाद से सम्बन्ध हो, क्योंकि अहिंसा में हमारा पूर्ण विश्वास है।''[52]

'हंस' की तरह ही 'जागरण' भी बमुश्किल से निकल पा रहा था। अनेक आर्थिक कठिनाइयाँ होने पर भी प्रेमचन्द इन पत्रों का प्रकाशन स्थगित नहीं करना चाह रहे थे। कुछ आर्थिक मदद हो सके इस हेतु दयानारायण निगम को पत्रों के लिए इश्तहार दिलवाने का निवेदन 16 दिसम्बर, 1932 के पत्र में करते हैं ''जागरण के लिए कुछ इश्तहारों की भी जरूरत है। यों कुछ-न-कुछ इश्तहरात तो मिल ही गए हैं। मगर उनसे पर्चा बेनियास (ब्रेफिक्र) नहीं हुआ। अब भी उसमें कम-से-कम 400 रुपए माहवार का घाटा है। अगर पचीस रुपए के इश्तहार भी और आ जाए तो खसारा कम हो और बर्दाश्त के काबिल जो जाए। अभी तो कचूमर निकला जा रहा है।''[53]

कोई सूरत न निकलने पर प्रेमचन्द 'जागरण' का दाम बढ़ाने का फैसला करते हुए 10 अप्रैल, 1933 को प्रकाशित 'जागरण' की सम्पादकीय 'जागरण का दाम पाँच पैसे' में प्रेमचन्द कहते हैं ''जागरण को निकलते छः महीने हो गए। हमने हिन्दी में कोई अच्छा साहित्यिक साप्ताहिक पत्र न देखकर ही इसका प्रकाशन स्वीकार किया था और हमें यह देखकर हर्ष होता है कि हिन्दी पाठकों ने हमारे साथ सहयोग किया। आज 'जागरण' उसका प्रेमपात्र बना हुआ है, लेकिन प्रकाशन में हम अब तक दो हजार का नुकसान उठा चुके हैं। हमने बराबर बीस-पच्चीस पृष्ठ ठोस पठन-सामग्री दी है, जो इस दाम में या इससे अधिक में बिकने वाला कोई पत्र नहीं दे सकता। पृष्ठ संख्या तो उनकी बत्तीस तक होगी या इससे भी अधिक, किन्तु उसमें पन्द्रह पृष्ठ से कम विज्ञापन के न होंगे। इतना पढ़ने का मसाला केवल 'जागरण' में होता है...इतना बल खाने के बाद हमने इतना अधिकार प्राप्त कर लिया है कि पाठकों से कुछ सहायता माँग सकें। और वह सहायता केवल इतनी है कि 'जागरण' के लिए आप चार पैसे की जगह पाँच पैसे खर्च करें। अगर 'जागरण' से आपको प्रेम है, तो आप एक पैसे की परवाह न करेंगे...हमें विश्वास है कि पाठक वृन्द साहित्य प्रेम के नाते सप्ताह में एक पैसा अधिक खर्च करने में कंजूसी न करेंगे।''[54] जैनेन्द्र को 9 मई, 1933 के पत्र में कहते है ''जागरण अभी तक खड़ा नहीं हुआ, घिसट रहा है।''[55]

जैसे-तैसे 'जागरण' ने एक वर्ष का सफर तय किया, इस पर 13 अगस्त, 1933 को 'जागरण' में प्रकाशित अपनी सम्पादकीय 'जागरण का पहला वर्ष' में पाठकों को सम्बोधित करते हुए कहते हैं ''इस संख्या से 'जागरण' को दूसरा वर्ष आरम्भ होता है...इन बारह महीनों में हमें जो कुछ जागरण भेंट करने पड़े, उसका खेद नहीं है। रुपए का इससे बढ़कर हम और क्या सदुपयोग कर सकते थे। अगर धन का अभाव न होता तो 'जागरण' इस शान से निकलता कि हिन्दी संसार को उस पर गर्व होता, लेकिन हम अपनी सीमाओं के अन्दर रहकर जो कुछ कर सकते थे वह किया और करते रहेंगे, व्यापारिक दृष्टि से यह उद्योग सफल हो या न हो।''[56] आर्थिक परेशानियों को व्यक्त

करते हुए बनारसीदास चतुर्वेदी को 18 अगस्त, 1933 को कहते हैं ''हंस पर मुझे बहुत खर्चा नहीं आता मगर 'जागरण' असह्य होता जा रहा है।''[57]

'जागरण' के प्रकाशन में प्रेमचन्द की परेशानियाँ बढ़ती जा रही थी, अन्त में शारीरिक एवं आर्थिक परेशानियों से तंग आकर 'जागरण' का प्रकाशन बाबू सम्पूर्णानन्द जी[58] को सौंपते हुए 28 नवम्बर, 1933 के पत्र में जैनेन्द्र कुमार को लिखते हैं ''जागरण का भार मेरे सर से उतरा जा रहा है। यहाँ से बाबू सम्पूर्णानन्द जी उसे अर्ध-साप्ताहिक रूप में निकालने जा रहे हैं। आशा है दो-तीन दिन में सब बात तय हो जाएगी...अगर 'जागरण' मेरा पल्ला छोड़ता है तो अभी 'हंस' रह जाएगा। उसमें थोड़े-से और पृष्ठ बढ़ाकर ज्यों-का-त्यों निकालता रहूँगा।''[59] मगर यह व्यवस्था ज्यादा दिनों तक नहीं चली व एक माह बाद ही प्रेमचन्द 16 दिसम्बर, 1933 के पत्र में जैनेन्द्र कुमार को इसे बन्द करने की सूचना देते हुए कहते हैं कि 'जागरण' साविक दस्तूर चल रहा है। बाबू सम्पूर्णानन्द को शायद उनके मित्रों ने मदद नहीं दी। अब मैं उसको बन्द करने की फिक्र में हूँ। उसके पृष्ठ घटा दिए हैं। इस रूप में शायद इससे ज्यादा नुकसान नहीं है। फिर भी झंझट तो है ही।''[60] विभिन्न आर्थिक परेशानियों से घिरे प्रेमचन्द इन दोनों पत्रों की माली हालत को सुधारने हेतु फिल्म नगरी बम्बई का रुख करते हैं। बम्बई की एक फिल्म कम्पनी से 8000 रुपए सालाना कंट्रेक्ट कहानी लिखने की बात होती है। हालाँकि प्रेमचन्द मायानगरी जाने के विरुद्ध थे, मगर हालात कुछ ऐसे बन चुके थे कि उनके पास वहाँ जाने के अलावा दूसरा कोई रास्ता नहीं बचा था। बम्बई जाने की सूचना 30 अप्रैल, 1934 को जैनेन्द्र कुमार को देते हुए कहते हैं कि ''जागरण और हंस दोनों मजे से चलेंगे और पैसों का संकट कट जाएगा।''[61] मगर बम्बई में प्रेमचन्द का दिल नहीं लगता व एक साल पूर्ण होने से पहले ही वे वापिस बनारस आ जाते हैं।

अन्ततः 21 माह बाद ही 'जागरण' को आर्थिक संकट की वजह से बन्द करना पड़ता है। इस लोकप्रिय साप्ताहिक पत्र का अन्तिम अंक 21 मई, 1934 को प्रकाशित होता है। इस पत्र के कुल 89 अंक प्रकाशित होने की जानकारी प्राप्त होती है। प्रेमचन्द अपने इस प्रिय साप्ताहिक 'जागरण' के अन्तिम अंक (21 मई, 1934) में 'जागरण की समाधि' नामक सम्पादकीय में दुःख व्यक्त करते हुए लिखते हैं कि—''लगभग पौने दो साल तक देश की भली-बुरी सेवा करने के बाद 'जागरण' अब उतने दिनों के लिए समाधि ले रहा है, जब तक वह इस योग्य न हो जाए कि इससे अच्छे रूप में पाठकों की सेवा कर सके...हमने कभी किसी का दिल दुखाने की या सस्ती शोहरत हासिल करने की चेष्टा नहीं की, फिर भी यदि हमने अनजाने में किसी का दिल दुखाया हो तो हम सच्चे दिल से उसके लिए क्षमा माँगते हैं...अन्त में हम कवि मीर के शब्दों में पाठकों से विदा माँगते हैं—''अब तो जाते हैं मैकदे से मीर। फिर मिलेंगे अगर खुदा लाया।'' इस सम्पादकीय को पढ़कर पंडित विनोद शंकर व्यास काफी दुःखी होते हैं

और वे प्रेमचन्द को कहते हैं ''जागरण की समाधि'' शीर्षक अग्रलेख पढ़कर अत्यन्त दुःख हुआ। मुझे विश्वास ही नहीं होता था कि 'जागरण' इतनी जल्दी में बन्द किया जाएगा...मैंने 'जागरण' आपके हाथों में देते हुए अपनी एक प्रार्थना आपसे स्वीकार करा ली थी कि कभी 'जागरण' आप बन्द करें तो मैं ही उसकी व्यवस्था करूँगा, क्योंकि 'जागरण' से मुझे भी कोई व्यावसायिक लाभ की सम्भावना न थी और न है। मेरा उद्देश्य केवल साहित्य सेवा का ही है। मैं किसी तरह भी यह नहीं देख सकता कि 'जागरण' का अन्त हो...कृपा करके आप मुझे आज्ञा दें कि मैं उसका नया प्रबन्ध करूँ, अथवा उसे बन्द ही कर दूँ। यह अधिकार मुझे है, आपको नहीं।''[62]

पंडित विनोद शंकर व्यास के पत्र के जबाव में प्रेमचन्द कहते हैं ''जागरण को बन्द करने का कारण मेरे यहाँ भी वही था जो आपके यहाँ था। आपने छः महीने में ज्यादा-से-ज्यादा एक हजार का नुकसान उठाया। मैं चार हजार के लपेटे में आ गया. ..खैर, आप तो 'जागरण' को बन्द कर चुके थे। उसे मैंने फिर चलाया...मेरे लिए 'जागरण' नाम से कोई विशेष लाभ क्या बिल्कुल लाभ नहीं हुआ। मैंने इस पर चार हजार डुबाया है और इसे फिर निकालूँगा, चाहे खुद या किसी के साझे में।''[63] आगे वे कहते हैं ''मैंने जागरण बन्द नहीं किया है और न करूँगा। स्थगित किया है। समाधि के बाद वह पुनर्जीवन लाभ करके उठेगा और इससे अच्छे रूप में निकलेगा। कब तक वह शुभ मुहूर्त आवेगा, यह मैं नहीं बता सकता। रुपए जब जमा हो जाएँगे तब निकलेगा...जब मैं 'जागरण' को सदा के लिए बन्द कर दूँगा तब आप उसका शव उठा ले जाइएगा। समाधि तो मौत नहीं है।''[64]

21 मई, 1934 के अंक के प्रकाशन के एक सप्ताह पश्चात् 28 मई, 1934 में प्रकाशित अपनी सम्पादकीय टिप्पणी 'जागरण की नई व्यवस्था' में कहते हैं ''गत सप्ताह में हमने पाठकों से निवेदन किया था कि 'जागरण' को अपने ही आदर्शानुकूल न निकाल सकने के कारण हम उसका प्रकाशन उतने दिनों के लिए स्थगित कर रहे हैं, जब तक हमारे पास ऐसे साधन न हो जाएँ कि हम उसे इससे अच्छे रूप में निकाल सकें। हमारे इस निवेदन का आशय यह समझा गया कि हम 'जागरण' को सदैव के लिए बन्द कर रहे हैं और पाठकों तथा मित्रों ने 'जागरण' को एक सप्ताह की समाधि की व्यवस्था में रहने देना स्वीकार न किया। चारो ओर से ऐसे पत्र आने लगे कि 'जागरण' को किसी दशा में भी बन्द न होना चाहिए।...हम बड़े हर्ष के साथ निवेदन करते हैं कि 'जागरण' के सम्पादन का भार श्री सम्पूर्णानन्द ने लेना स्वीकार कर लिया है और अगले अंक से 'जागरण' उन्हीं के सम्पादन में निकलेगा...हमें आशा है, हमारे साहित्यिक सहयोगियों और पाठकों ने 'जागरण' पर जो कृपा दृष्टि रखी है, वह पूर्ववत् बनाए रखेंगे।''[65]

जागरण में प्रकाशित कहानियाँ—जागरण में प्रेमचन्द की 5 कहानी प्रकाशित हुई (1) कुत्सा, 3 जुलाई, 1932 (2) झाँकी, 22 अगस्त, 1032 (3) ठाकुर का कुआँ,

29 अगस्त, 1932 (4) रसिक सम्पादक, 15 मार्च, 1933 (5) पंडित मोटेराम की डायरी, जुलाई 1932 आदि।

समग्रतः हम यह कह सकते हैं कि प्रेमचन्द बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे क्योंकि उनकी साहित्यिक पत्रकारिता में भी वही धार थी जो उनके लिखे अन्य विधा के साहित्य में थी। वे जितने बड़े साहित्यकार थे उतने ही बड़े पत्रकार भी थे; उनकी पत्रकारिता के सम्बन्ध में लोकप्रिय होने का अन्दाजा इसी से लगाया जा सकता है कि उनके इन पत्रों में फैले हजारों सम्पादकीय, लेख, भाषण, यात्रा वृत्तान्त, पुस्तक समीक्षाएँ आदि देखने को मिलते हैं, जो उनकी लेखनी के सम्बन्ध में काफी कुछ बयाँ करते हैं। 'जागरण' एवं 'हंस' दोनों पत्रों को वे अपने बेटे की तरह ही प्यार करते थे तथा लगातार नुकसान होने के बावजूद इनको चलाए रखना चाहते थे। इन पत्रों पर सरकार द्वारा जमानत भी माँगी गई जिसे प्रेमचन्द ने स्वयं अपने गृह से जमा किया ताकि उनके ये प्यारे पत्र निरन्तर पाठकों की सेवा करते रहें। प्रेमचन्द 'हंस' को लगातार आर्थिक कठिनाइयाँ होने के बावजूद अपनी मृत्यु-पर्यन्त चलाते रहे जो उनकी साहित्य के प्रति सच्ची निष्ठा एवं लगन को दर्शाता है। इस आलेख के द्वारा प्रेमचन्द का वह पत्रकार रूप पाठकों के समक्ष लाने का उद्देश्य था जिससे आम पाठक अनभिज्ञ ही था।

सन्दर्भ

1. प्रेमचन्द : अनछुए प्रसंग, डॉ. कमल किशोर गोयनका, मानसी पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, पृष्ठ : 26–27।
2. प्रेमचन्द : पत्र-कोश, डॉ. कमल किशोर गोयनका, अमित प्रकाशन, गाजियाबाद, पृ. : 86–87।
3 वही, पृ. : 83।
4. प्रेमचन्द : चिट्ठी-पत्री, भाग-2, हंस प्रकाशन इलाहाबाद, पृ. : 286 ।
5. वही, पृ. : 176।
6. वही, पृष्ठ : 185।
7. प्रेमचन्द : पत्र-कोश, डॉ. कमल किशोर गोयनका, अमित प्रकाशन, गाजियाबाद, पृ. : 335।
8. प्रेमचन्द : चिट्ठी-पत्री, भाग-2, हंस प्रकाशन इलाहाबाद, पृ. : 202।
9. प्रेमचन्द : पत्र-कोश, डॉ. कमल किशोर गोयनका, अमित प्रकाशन, गाजियाबाद, पृ. : 384–385।
10. प्रेमचन्द : चिट्ठी-पत्री, भाग-2, हंस प्रकाशन इलाहाबाद, पृ. : 248।
11. प्रेमचन्द : रचनावली, भाग-8, जनवाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. : 37–38।
12. प्रेमचन्द : अनछुए प्रसंग, डॉ. कमल किशोर गोयनका, मानसी पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, पृ. : 97।

13. प्रेमचन्द : चिट्ठी-पत्री भाग-2, हंस प्रकाशन इलाहाबाद, पृ. : 10।
14. प्रेमचन्द : अनछुए प्रसंग, डॉ. कमल किशोर गोयनका, मानसी पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, पृ. : 97—99।
15. प्रेमचन्द : चिट्ठी-पत्री, भाग-2, हंस प्रकाशन इलाहाबाद, पृ. : 26।
16. वही, पृ. : 230।
17. वही, पृ. : 78।
18. वही, पृ. : 198।
19. वही, पृ. : 198-199।
20. वही, पृ. : 200।
21. वही, पृष्ठ : 36।
22. वही, पृ. : 37 ।
23. वही, पृ. : 37 ।
24. वही, पृ. : 215।
25. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, श्रद्धांजलि अंक, हंस के काशी अंक का अनुशीलन—डॉ. रत्नाकर पांडेय, वर्ष : 1972, अंक-1 से 4, पृ. : 326-366।
26. प्रेमचन्द : चिट्ठी-पत्री, भाग-2, हंस प्रकाशन इलाहाबाद, पृ. : 206-207।
27. वही, पृ. : 40।
28. प्रेमचन्द : अनछुए प्रसंग, डॉ. कमल किशोर गोयनका, मानसी पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, पृ. : 28।
29. प्रेमचन्द : चिट्ठी-पत्री, भाग-2, हंस प्रकाशन इलाहाबाद, पृ. : 89।
30. वही, पृ. : 91।
31. प्रेमचन्द : रचनावली, भाग-9, जनवाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. : 191—193।
32. प्रेमचन्द : अनछुए प्रसंग, डॉ. कमल किशोर गोयनका, मानसी पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, पृ. : 28—29।
33. प्रेमचन्द : रचनावली, भाग-9, जनवाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. : 196—197।
34. प्रेमचन्द : अनछुए प्रसंग, डॉ. कमल किशोर गोयनका, मानसी पब्लिकेशन्स नई दिल्ली, पृ. : 29।
35. प्रेमचन्द : चिट्ठी-पत्री, भाग-2, हंस प्रकाशन इलाहाबाद, पृ. : 66।
36. वही, पृ. : 242।
37. वही, पृ. 242।
38. प्रेमचन्द : अनछुए प्रसंग, डॉ. कमल किशोर गोयनका, मानसी पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, पृ. : 30—31।
39. प्रेमचन्द : रचनावली, भाग-9, जनवाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 246।
40. प्रेमचन्द : चिट्ठी-पत्री, भाग-9, हंस प्रकाशन इलाहाबाद, पृ. : 203।
41. वही, पृ. : 220।

42. पराड़कर जी और पत्रकारिता (जीवन दर्शन, साहित्य और पत्रकारिता)—लक्ष्मीशंकर व्यास, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण—1960, पृ. : 126।
43. वही, पृ. : 129—130।
44. प्रेमचन्द : चिट्ठी-पत्री, भाग-2, हंस प्रकाशन इलाहाबाद, पृ. : 186।
45. वही, पृ. : 187।
46. वही, पृ. : 26।
47. प्रेमचन्द रचनावली, भाग-8, जनवाणी प्रकाशन, नई दिल्ली पृ. : 121-123
48. वही, पृ. : 200—201
49. प्रेमचन्द : चिट्ठी-पत्री, भाग-2, हंस प्रकाशन इलाहाबाद, पृ. : 27।
50. वही, पृ. : 27।
51. वही, पृ. : 201।
52. प्रेमचन्द रचनावली, भाग-8, जनवाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. : 216।
53. प्रेमचन्द : चिट्ठी-पत्री, भाग-1, हंस प्रकाशन इलाहाबाद, पृ. : 201।
54. प्रेमचन्द : रचनावली, भाग-8, जनवाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. : 284।
55. प्रेमचन्द : चिट्ठी-पत्री, भाग-2, हंस प्रकाशन इलाहाबाद, पृ. : 31।
56. प्रेमचन्द : रचनावली, भाग-8, जनवाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. : 399।
57. प्रेमचन्द : चिट्ठी-पत्री, भाग-2, हंस प्रकाशन इलाहाबाद, पृ. : 84।
58. बाबू सम्पूर्णानन्द जी 'मर्यादा' मासिक पत्रिका (ज्ञान मंडल काशी से प्रकाशित) के सम्पादक थे। बाबू सम्पूर्णानन्द कुछ समय जेल में रहे थे, उनकी अनुपस्थिति में प्रेमचन्द ने 'मर्यादा' के वैशाख 1979 वि. में प्रकाशित केवल एक अंक के स्थानापन्न सम्पादक का भार सँभाला था।
59. प्रेमचन्द : चिट्ठी-पत्री, भाग-2, हंस प्रकाशन इलाहाबाद, पृ. : 38।
60. वही, पृ. : 39।
61. वही, पृ. : 44।
62. वही, पृ. : 187।
63. वही, पृ. : 188।
64. वही, पृ. : 190।
65. प्रेमचन्द रचनावली, भाग-9, जनवाणी प्रकाशन, पृ. : 120—121।

सूरजपाल सिंह की कहानियों में वर्णवाद

डॉ. सोनिया माला

'जाति' शब्द के लिए अंग्रेजी में 'Caste' शब्द का प्रयोग किया जाता है। यह शब्द पुर्तगाली भाषा के शब्द 'Casta' से बना है जिसका अर्थ है 'नस्ल' या 'वंश'। भारतीय समाज में जाति प्रणाली का आधार वर्ण व्यवस्था है। प्राचीन भारतीय वर्ण-व्यवस्था का प्रारम्भ कर्म (कार्य) के आधार पर हुआ था लेकिन धीरे-धीरे इसका स्वरूप बिगड़कर वर्ण-वर्ग व जातिगत बनता गया। इसी जातिगत व्यवस्था ने निम्न वर्ग के रूप में शूद्रों, अस्पृश्यों एवं अछूतों के नाम पर समाज के एक वर्ग-विशेष को हाशिए पर धकेल दिया, व उसे सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक रूप के साथ-साथ आर्थिक शोषण का भी शिकार बना दिया और इन्हें कमजोर व पिछड़ा घोषित कर दिया गया। जाति का सम्बन्ध जन्म से है अर्थात् जाति जन्म आधारित होती है। जाति भारतीय समाज में एक ऐसा मानसिक, सामाजिक कोढ़ है जिसकी जड़ें भारतीय समाज में सूक्ष्म रूप में धर्म से भी ज्यादा दूर तक फैली हुई हैं।

जाति के सम्बन्ध में नारायण गुरु ने कहा है—''सभी मनुष्यों की एक ही जाति है। मनुष्य के स्तर में फर्क हो सकता है पर किस्म में। कुछ धनी, शिक्षित और अधिक स्वच्छ हो सकते हैं। कुछ में इस प्रकार की कमी हो सकती है। चमड़ी के रंग में फर्क हो सकता है। इनके अतिरिक्त मनुष्यों में कुछ भेद नहीं हो सकता है।''[1] जाति ने कहानी साहित्य में अपने पाँव किस प्रकार पसार रखे हैं इसका वर्णन हम निम्न विवेचित कहानियों में देखेंगे। ऐसा माना जाता है कि स्वतन्त्र भारत में जाति की जड़ें खोखली हो गई हैं पर असलियत कुछ और ही है। जाति किस प्रकार से अपना वर्चस्व स्थापित किए है इसका विवेचन हम आगे देखेंगे।

सूरजपाल चौहान की कहानी 'बदबू' में सन्तोष पढ़ने-लिखने में काफी अच्छी थी। उसने हाईस्कूल सत्तर प्रतिशत अंकों से पास किया था। पंडित मंगतराम की बेटी आई.ए.एस. करके दिल्ली में ए.डी.एम. के पद पर तैनात हो गई थी। पंडित मंगतराम

खालसा कॉलेज फॉर विमैन, लुधियाना।

ने सन्तोष के पिता को समझाते हुए कहा था—"किशोरिया, तेरी छोरी पढ़ने में होशियार है, पूरे स्कूल में अव्वल आई है, मेरी छोरी के संग उसे भी शहर भेज दे, उसके रहने और पढ़ाई का खर्चा भी मैं देता रहूँगा, बस तू एक बार हाँ कर दे।" किशोरी ने नकारात्मक रुख अपनाते हुए कहा था—"तुम ऊँची जाति के लोग हो अपनी जवान होती बेटियों को शहर पढ़ने भेज सकते हो, मैं ऐसा करूँगा तो समाज में मेरी नाक कट जाएगी। बिरादरी के सभी लोक ताली देकर हँसेंगे और कहेंगे कि विवाह योग्य लड़की को शहर पढ़ने भेज दिया...ना पंडित जी ना, मैं तो अब इसके हाथ पीले करके बेटी ऋण से मुक्त होना चाहूँ।"[2] किशोरिया का मानना है कि उच्च जाति के लोग ही अपनी जवान होती लड़कियों को पढ़ने भेजते हैं। उसके समाज के लोग तो अपनी जाति की लड़कियों को घर से बाहर भेजने के बारे में सोच भी नहीं सकते। वह जाति के बन्धनों का इतनी कठोरता से पालन कर रहा है कि जब उसे दो साल तक अपनी बेटी के लिए कोई भी रिश्ता नहीं मिलता तो वह पंडित मंगतराम और दूसरे लोगों की बातें याद दिलाते हुए कहता है—"ससूरे, यूँ कहते थे कि अब तो दलित समाज में लड़के और लड़कियाँ बड़ी-बड़ी किलासों में पढ़ने लगे हैं। लगभग दो साल होने को आए हमारी सन्तोष के लिए तो दसवीं पास भी लड़का ना मिल पा रहा।"[3] दो साल के पश्चात जब सन्तोष का विवाह दिल्ली म्यूनिस्पल्टी में झाड़ू की नौकरी करने वाले लड़के के साथ हो जाता है तो सन्तोष की सास और उसका पति चाहते हैं कि वह कमाने जाए। सन्तोष पढ़ी-लिखी होने के कारण मल-मूत्र उठाने वाले कार्य के लिए मना करती है पर जब उसके ससुरालवाले उसकी एक नहीं सुनते तो सास के पीछे-पीछे चलते उसके मन में चल रहे अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण देखिए—"दूसरे समाज के पढ़े-लिखे तो दूर अनपढ़ होकर भी यह काम नहीं करते, वे दूसरा अन्य काम करके अपना जीवन-यापन कर लेते हैं, लेकिन यह गन्दगी से भरा काम कतई नहीं करते, आखिर, हमारी जात-बिरादरी के लोग ही यह काम क्यों करते हैं?"[4] सन्तोष को जब वाल्मीकि जाति से सम्बन्धित होने के कारण गू-मूत उठाना पड़ता है तो वह अपनी जाति को कोसती है और जातिगत भेदभाव को महसूस करती है।

'बहुरुपिया' कहानी में मुख्य पात्र वाल्मीकि समाज से है। वह कहता है कि वाल्मीकि समाज के लोगों में जब तक बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर की शिक्षाओं का प्रसार-प्रचार नहीं होगा तब तक इस समाज का कल्याण होने वाला नहीं। दिल्ली की जे.जे. कॉलोनी में मुख्य पात्र का कहानी का पाठ का कार्यक्रम रखा जाता है। वह अपना कहानी पाठ आरम्भ करने से पहले वहाँ उपस्थित लोगों को बाबा साहेब के बारे में जानकारी देना आरम्भ कर देता है। वह कहता है—"दलित समाज के लोग बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर की शिक्षाओं को अपनाकर और पढ़-लिखकर आज कहाँ से कहाँ पहुँच रहे हैं। आप लोग भी उनके बताए मार्ग पर चलना शुरू कर दो, अपने बच्चों के हाथों से झाड़ू छीनकर दूर फेंक दो और कलम थमा दो, देवी-देवताओं की

पूजा-अर्चना व पाखंड आदि से दूर रहो।'' सभी लोग शान्त भाव से उसकी बातें सुन रहे थे तभी एक अधेड़ उम्र का व्यक्ति भीड़ के बीच से उठा और अपनी कमीज की बाजू ऊपर चढ़ाते हुए ऊँचे स्वर में बोला—''तू किसी चमार का दीखै, तभी इतनी देर सू चमार-राग अलापे जा रहौ है, अरे महा-मूरख, हमारे गुरु तो भगवान महर्षि वाल्मीकि स्वामी हैं, हमें अम्बेडकर से का लेनो-देनो, बन्द कर अपनी यू बकवास।''[5] कहानी स्पष्ट करती है कि दलितों ने भी अपनी-अपनी जातियाँ बना रखी हैं, दलित समाज के लोग स्वयं को टुकड़ों-टुकड़ों में विभाजित कर जाति के कठोर नियमो का पालन कर रहे हैं। कहानी का मुख्य पात्र जब डॉ. रामसेवक द्वारा आयोजित कार्यक्रम में जाने के लिए हामी भर देता है तो वह वहाँ जाकर देखता है कि वहाँ पंडाल के प्रांगण में हिन्दू रीति-रिवाज से यज्ञ चल रहा था। हवनकुंड के चारो ओर वाल्मीकि समाज के बच्चे, बूढ़े और औरतें बैठी हुई थीं। वाल्मीकि समुदाय में से ही मनोनीत एक व्यक्ति तिलकधारी ब्राह्मण का रूप धरे जोर-जोर से मन्त्रों का जाप कर रहा था। मुख्य पात्र यह सब देखकर हैरान रह जाता है।

'सारे जहाँ से अच्छा' कहानी में कैप्टन वीरेन्द्र गाँव में जमीन खरीदकर खेती-बारी करना चाहता है। वह ठाकुर के पास जमीन खरीदने के लिए जाता है। लम्बी चर्चा के बाद ठाकुर उसे सात हजार रुपए बीघा पर जमीन बेचने को तैयार हो जाता है। ठाकुर ने इस विषय में जब अपने घर में बात की तो जयवीरा को छोड़कर सभी उसके खिलाफ हो गए। बदनी ठाकुर का बड़ा लड़का रामवीर तो बुरी तरह से बौखला गया। उसने भृकुटि तानते हुए ठाकुर से कहा—''तुम्हारी बुद्धि तो भ्रष्ट ना हो गई, भंगिया कू अपनी धत्ती बेक (बेच) रहे हो...ये गाम की रीति नायँ, ठाकुर और नीच कू धत्ती बेक दे—सुनो है एसौ कहीं, काहे नाक कटवाओ।''

''यामे नाक कटवायबे की का बात है'' जयवीरा ने अपने बड़े भाई रामवीर की ओर देखते हुए कहा।

''अरे जयवीरा, ताली दैके हँसेंगे गाम के...कहेंगे...ठाकुर ने एक भंगी कू अपनी धत्ती बेक दीनी। ना, कतई ना, जिनके बाप-दादा हम ठाकुरों की गुलामी करते आए हों और आज वह हमारे सीना पर हल चलाएँ...मेरे रहते ऐसौ ना होगो।'' रामवीर ने त्यौरियाँ चढ़ाते हुए कहा।

रामवीर पर जाति में श्रेष्ठ होने का भूत सवार था। उसने दाँत पीसते और पैर पटकते हुए कहा—''देखो बापू, बिरन्दर चाहे कितनो भी अधिक रुपया क्यों न दे, मैं वाकू (उसे) धत्ती बेकने के हक में ना हूँ...हम थोड़े पइसा में ही श्यामा को जमीन बेक देंगे, लेकिन जा भंगिया कू हरगिज ना।''[6] कहानी स्पष्ट करती है कि रामवीर जातिगत भेदभाव को समाप्त नहीं करना चाहता और अपनी श्रेष्ठता बनाए रखना चाहता है।

'अम्मा' कहानी में मुख्य पात्र की माँ बचपन में उसे स्कूल जाने से रोका करती थी। दादाजी एक दिन अम्मा को डपटते हुए कहते हैं—''सुखदेई, तू जा छोराए नायँ

पढ़न देई, दो हरफ सीख जायेगौ तो जाई के काम आएँगे।'' अम्मा को न जाने कहाँ से सच्ची बात पता चल गई थी कि ''गाँव की पाठशाला में सवर्ण अध्यापक भंगी-चमारों के बच्चों को स्कूल में दूर बैठाते हैं और उनको बे-वजह पीटते रहते हैं। बस, फिर क्या था—वह एक ही रट लगाए रखती—मैं नायँ भेजत पढ़वे कूँ, कढ़ी खाओ मास्टरू, बिना बात मातुए (मारता) है मेरे छोरा कूँ।'' पिता ने अम्मा को समझाते हुए कहा—''हमारो बालक मास्टन्नु की लात-घूँसा खाए के पढ़-लिख जाएगौ, तोऊ वाको कुछ भलो है जाएगौ।''[7] कहानी स्पष्ट करती है कि दलित अपनी जाति के चलते बच्चों को पढ़ने के लिए स्कूल नहीं भेजना चाहते। दलितों को जाति के कारण मारपीट सहन करनी पड़ रही है जबकि कुछ दलित इस सोच के भी पोषक हैं कि यदि जाति के चलते उन्हें भेदभाव को सहन करना पड़ रहा है तो भी उन्हें शिक्षा तो मिल ही रही है जैसे कि कहानी का पात्र सुखदेई का पति। वह जातिगत भेदभाव को जानते-समझते हुए भी अपने बच्चों को स्कूल भेजने के लिए भरसक प्रयत्न करता रहता है।

'नया ब्राह्मण' कहानी में मंगलू को 'आरक्षण कोटा रोस्टर' भरने के अभियान में सरकारी नौकरी मिल जाती है। वह अब शहर में ठाट-बाट से रहने लगता है। वह अपने ऊँचे पद के कारण अपनी ही जाति के लोगों से भेदभाव करने लगता है। वह अपने बहनों को कहता है ''ऐ, कैसे चली आओ तुम मेरे घर भिखारिन-सी।''[8] एक बार जब वह माँ से मिलने गाँव जाता है तो वह अपनी माँ से कहता है—''अरी अम्मा, कैसी रहवै तू भंगन-सी, ठीक से रहा कर अफसर की माँ जैसी।''[9] मँगलू को अपनी पत्नी कमली में भी अब हजारों कमियाँ नजर आने लगती हैं। एक दिन वह अपनी पत्नी के प्रति नकली प्यार उड़ेलते हुए धोखे से तलाक के कागजों पर हस्ताक्षर करवा लेता है और कोर्ट में डायवोर्स हो जाने के पश्चात वह कहता है कि ''आई डोंट वांट दिस ब्लडी वुमन, अंग्रेजी तो दूर रही, इस गँवार को हिन्दी भी ठीक से नहीं आती।'' कमली उस पर गरजती हुई कहती है—''तेरी अम्मा कूँ भी तो अंग्रेजी ना आवे, वाकूँ भी छोड़ दै, राँड कौ काई कूँ कुछ समझे ही नायँ, पढ़-लिख गयौ तो पानी कूँ पप्पा कहन लग्गौ, मेरी ससुरी कै कीड़े पड़ के मरेगौ।''[10]

'कारज' कहानी में मगनलाल अपनी पत्नी से कहता है कि वह बैंक से कर्जा लेकर शहर में एक घर बनाना चाहता है पर उसकी पत्नी कमली कहती है कि वह गाँव में ही बीस-पच्चीस हजार लगाकर रहने लायक घर क्यों नहीं बना लेता, क्योंकि गाँव में उनके रिश्तेदार हैं। मगनलाल, कमली से कहता है—''गाँव में रहने की बात कर रही हो, बड़ी जातियों की तो बात ही क्या; छोटी कही जाने वाली जातियों में भी ऊँच-नीच की भावना आज भी मौजूद है।'' देश को आजाद हुए पचास साल से ज्यादा हो गए हैं, अब ये सब पुरानी बातें हो गईं, कौन इन बातों पर ध्यान देता है...जो थोड़ी-बहुत छुआछूत है वह धीरे-धीरे अपने-आप ही समाप्त हो जाएगी।''[11] कमली ने अपना पक्ष रखते हुए कहा। पत्नी की बातों ने उसे दुविधा में डाल दिया और वह भी गाँव में अपने

घर को पक्का करवाने के लिए तैयार हो जाता है। जब वह गाँव में मकान पक्का करवाने के लिए पहुँच जाते हैं तो—''गाँव में अब भी छुआछूत, ऊँच-नीच और कुप्रथा का बोलबाला था, ऊँची जाति की क्या कहें, दलितों में भी आपस में... ।''[12] कमली अब यह सब अपनी आँखों के सामने देखकर विचलित हो उठती है।

'तीन चित्र' कहानी में जोगिन्दर सिंह गुरु नानक देव यूनिवर्सिटी में पढ़ता था। एक दिन वह पेड़ के नीचे बैठा अंग्रेजी का अखबार पढ़ रहा होता है। जट-सिक्खों की तीन युवतियाँ वहाँ से निकलती हैं। मनप्रीत, रवीन्द्र को चुटकी भरते हुए कहती है—''हाय मैं मर जावाँ, किन्ना सजीला जवान है नी जोगिन्दर!''

''इसकी छाती वेख फौजियाँ वरगी और मुखड़ा! रवीन्द्र बोली।''

''पर की करिए, है तो चूहड़ा।'' सुखविन्दर दोनों सहेलियों के चेहरे को निहारते हुए बोली।

मनप्रीत और सुखविन्दर ने जान-बूझकर ऊँचे स्वर में कहा—''आजकल चूहड़े की अंग्रेजी दा अखबार पढ़न लग पये ने।''[13] इसी कहानी में बद्रीनारायण की चाय जब चतरू से कम बिकनी शुरू हो जाती है तो वह अपनी चाय के दाम बढ़ा देता है जब ग्राहक उससे पूछता है कि उसकी चाय चतरू की चाय से महँगी क्यों है तो वह कहता है—''पियो, खूब पियो चूहड़े की चाय, करो अपनौ-अपनौ धरम-भिष्ट।''[14] इस कहानी के तीसरे चित्र में भी जातिगत भेदभाव को ही आधार बनाया गया है। राजवीर की बेटी की शादी होती है। फूल सिंह झाड़ू लगाकर घर वापिस जाने लगता है तभी राजवीर उसे आवाज लगाते हुए कहते हैं—''चाचा अभई जईओ मत, चाय तैयार है।'' फुलिया चाय के लिए रुक जाता है। जब फुलिया वहाँ से चाय पीकर चला जाता है तो राजवीर की बूढ़ी माँ खाली कपों को धोने के लिए इकट्ठा करने लगी, होती है तभी राजवीर बोला—''अरे-अरे अम्मा, यह फुलिया का कप।''

हाँ-हाँ, मोय पतौ है, इतनी बुद्धू ना हूँ कि फुलिया कौ जूठौ कप दूसरे कपों में मिला दूँगी।''

राजवीर तुरन्त बोला—''अब इतनौ तो ध्यान रखनो ही पड़ेगौ कि जूठौ कप चूहड़े कौ है।''[15]

'एलिजाबेथ' कहानी में विनोद वशिष्ठ एलिजाबेथ से बहुत प्यार करता था और वह उससे शादी करना चाहता था। अशोक जो कि विनोद का मित्र था जब विनोद के साथ कमला को उसकी पत्नी के रूप में देखता है तो हैरान रह जाता है। वह रवीन्द्र भारद्वाज से दोनों की शादी न होने का कारण पूछता है, रवीन्द्र उसके निकट आकर दबे शब्दों में कहता है—''एलिजाबेथ और उसके परिवार के लोग ईसाई बनने से पहले चूहड़ा जाति से सम्बन्ध रखते थे, यार अशोक, क्या धर्म बदलने से जाति बदल जाती है, यह तो अच्छा हुआ कि समय रहते सच्ची बात पता चल गई। वरना विनोद के साथ बहुत बड़ा अनर्थ हो जाता।''

''लेकिन रवीन्द्र, तुम और विनोद तो धर्म-जाति व ऊँच-नीच की बातों को मानते ही नहीं...तुम तो प्रगतिशील व वामपन्थी होने का ढिंढोरा पीटते फिरते हो।''

''प्रगतिशील या वामपन्थी होने का यह मतलब तो नहीं कि किसी भी चूहड़े-चमारी से विवाह रचाते फिरें।''[16]

'जाति' कहानी में चेतन सिंह ब्रांच ऑफिस में ज्वाइन करता है। हेड क्लर्क पी. सी. शर्मा उससे हमेशा यही पूछता कि उसकी जाति कौन-सी है। वह उसे कई बार बता चुका था कि वह शिड्यूल्ड कास्ट है पर फिर भी वह हमेशा उससे एक ही प्रश्न पूछता रहता था। एक दिन चेतन, सुनील डुलगच के पास आकर बैठ जाता है। सवर्ण वर्ग दोनों को साथ-साथ बैठा देखकर तरह-तरह की बातें करते हैं। कुछ समय पश्चात् पी.सी. शर्मा और सुखदेव सिंह उसके केबिन में आ जाते हैं। सुनील, चेतन से कहता है आज तुम इसे अपनी जाति बता ही दो। उसने चेतन की ओर देखते हुए कहा—''चेतन, बताओ मेरे सामने पंडत को अपनी जाति, सच बताने में आखिर बुराई क्या है...मैं चाहता हूँ कि रोज-रोज की यह आपस की चकल्लस आज इस ब्रांच से समाप्त ही हो जाए।''

''सर...!'' चेतन कुछ कहते-कहते बीच में रुका था, हाँ-हाँ बताओ-बताओ, झिझको मत...मैं भी तो शिड्यूल्ड कास्ट हूँ।'' पी.सी. शर्मा ने गिरगिट की तरह रंग बदलते ओर मेरी और देखते हुए अपनी बात जारी रखी—''सर, हम एक ऑफिस में काम करते हैं, एक-दूसरे के बारे में जानकारी रखना क्या बुरी बात है?''

तभी शर्मा ने मेज पर रखे पेपर-बेट को हाथ से नचाते हुए कहा—''अरे यार, कोई तो जाति होगी तुम्हारी, बिना जाति के तो आदमी पैदा ही नहीं होता।'' ''शर्मा जी, मेरे पिता ने प्रेम-विवाह किया है, वह खटीक है और मेरी माँ पंडिताइन, अब आप ही बताएँ कि मैं खटीक हूँ या पंडित।''[17] चेतन की यह बात सुन पी.सी. शर्मा सकपकाकर रह गया।

'दो रंग' कहानी के चपरासी गंगासरन जातिगत भेदभाव के कारण ऑफिस में काम नहीं करना चाहता। वह अपने साहब से कहता है कि—''मुझे आपके साथ काम नहीं करना, मेरा तबादला करवा दो।'' गंगासरन के वहाँ से चले जाने के बाद साहब ने स्टेनो शीला सक्सेना से पूछा—''गंगा हमारे साथ काम नहीं करना चाहता, क्यों?'' स्टेनो थोड़ी चुप्पी के बाद बोली—''सर, मुझसे भी वह कई बार कह चुका है कि वह यहाँ काम करना नहीं चाहता।''

''पर क्यों?'' मैंने फिर पूछा।

हिम्मत जुटाते हुए वह बोली—''सर गंगा आपकी जाति का नाम लेकर बड़बड़ाता रहता है कि वह किसी चूहड़े-चमार की चाकरी क्यों करे...वह तो सरकारी नौकर है और फिर ऊपर से पंडित।''[18]

'झूठ के दो चेहरे' कहानी में बलवान सिंह जब दस-ग्यारह वर्ष का था उसने सुक्को भंगिन के हाथ में झाड़ू और बगल में टोकरा लेकर आते हुए देखते ही कहा कि

ठिहा साफ करने सुक्को भंगिन आ गई है। उसके ये शब्द सुनकर उसके माँ-बाप ने उसे बड़ा डाँटा पर जब बीस वर्ष सुक्को भंगिन का बेटा मुक्खा उसी गाँव में फिर वापिस आता है तो बलवान सिंह मुक्खा (मुखराम) और उसके बहनोई को उसके घर के अन्दर आने के लिए कहता है। वह मुखराम के जीजा का हाथ पकड़ते हुए कहता है—''आओ जीजाजी, अन्दर आ जाओ।'' कुछ देर ठहरकर जब वह दोनों वापिस चले जाते हैं तो उसके बाबू जी और अम्मा उसे फटकार लगाते हुए कहते हैं—''बलवान सिंह, तेरी क्या बुद्धि भ्रष्ट हो गई है? भंगी के जीजा कूँ अपनौ जीजा कह रहौ है, मति मारी गई है तेरी? गाम के कुछ कायदे-कानून होवे हैं अरे नासपीटे, तूने सब ताक पर धर दीनै।''[19] बलवान सिंह अपने माता-पिता की बातों पर मन्द-मन्द मुस्कुराने लगता है क्योंकि बीस साल बाद उसे सच्ची और असली बात समझ आ रही थी।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि जातिवाद ने भारतीय समाज में अपनी गहरी जड़ें जमा रखी है। इससे मुक्ति पाना आसान नहीं है।

सन्दर्भ

1. देवेन्द्र कुमार बेसन्तरी, भारत के सामाजिक क्रान्तिकारी, दलित-साहित्य, प्रकाशन, नई दिल्ली, 2001, पृ. 58-60।
2. सूरजपाल चौहान, नया ब्राह्मण, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009, पृ. 15/16।
3. वही, पृ. 16।
4. वही, पृ. 19/20।
5. वही, पृ. 24।
6. वही, पृ. 35।
7. वही, पृ. 41।
8. वही, पृ. 62।
9. वही, पृ. 63।
10. वही, पृ. 64।
11. वही, पृ. 66।
12. वही, पृ. 71।
13. वही, पृ. 72/73।
14. वही, पृ. 74।
15. वही, पृ. 75/76।
16. वही, पृ. 82।
17. वही, पृ. 88/89।
18. वही, पृ. 90/91।
19. वही, पृ. 105।

सामाजिक विकास में नारी का योगदान

डॉ. कृष्ण कुमार तिवारी

परिचय

महिला सशक्तीकरण के अन्तर्गत महिलाओं से जुड़े सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, और कानूनी मुद्दों पर मुख्य रूप से संवेदनशीलता और सरोकार व्यक्त किया जाता है। सशक्तीगरण की प्रक्रिया में समाज को पारम्परिक पितृसत्तात्मक दृष्टिकोण के प्रति जागरूक किया जाता है, जिसमें महिलाओं की स्थिति को सदैव कमतर माना है। वैश्विक स्तर पर नारीवादी आन्दोलनों और यू एन डी पी आदि अन्तरराष्ट्रीय संस्थाओं ने महिलाओं के सामाजिक समता, स्वतन्त्रता और न्याय के राजीतिक अधिकारों को प्राप्त करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। महिला सशक्तीकरण, भौतिक या आध्यात्मिक, शारीरिक या मानसिक सभी स्तर पर महिलाओं में आत्मविश्वास पैदा कर उन्हें सशक्त बनाने की प्रक्रिया है।

भारतवर्ष में पुरातन काल में नारी-शक्ति का अत्यधिक महत्त्व था। यहाँ की संस्कृति में नारी को एक महान शक्ति के रूप में आदर-सम्मान दिया जाता रहा है। वैदिक काल में इस देवभूमि की नारी, सामाजिक-धार्मिक व आध्यात्मिक क्षेत्रों में पुरुष की सहभागिनी थी। गौरवपूर्ण अधिकार व सम्मान प्राप्त नारी आदिकाल से माँ, बहन, प्रेयसी, पत्नी व पुत्री आदि रिश्तों के दायित्वों को निभाती चली आ रही है। वैदिक काल में नारी ने अपने कर्तव्यों का पालन करते हुए समाज व जीवन के हर क्षेत्र में अपना गौरव व सम्मान बढ़ाया था। भारत में हिन्दू शासकों के शासनकाल तक नारी का सम्मान उच्च कोटि का था। महर्षि याज्ञवल्क्य का गार्गेय के साथ संवाद, जगतगुरु शंकराचार्य का मंडल मिश्र की धर्मपत्नी भारती के साथ शास्त्रों, वेदों व कामशास्त्र पर शास्त्रार्थ आज भी स्मरणीय हैं।

मध्यकाल में भारत वर्ष में मुगल सल्तनत के विस्तार के साथ-साथ, भारतीय समाज व नारी की स्थिति बिगड़ती गई एवं नारी के सामने एक के बाद एक समस्याएँ

मो. 9425869288, E- mail : researchkkt@gmail.com

पैदा होती रहीं। मुगलकाल वह काल था जब भारतीय नारी ने अपने सतीत्व के रक्षार्थ अपने प्राणों की आहुति देने का कार्य किया। मध्यकाल में भारतीय नारी का जीवन संकटग्रस्त था। शिक्षा लगभग समाप्त हो गई थी। इस मध्यकाल में भी अपनी विद्वता, वीरता, लगन से अपना, अपने परिवार का, अपने समाज व देश का नाम स्वर्णाक्षरों में लिखने वाली रानी दुर्गावती, अहिल्याबाई, पद्मिनी, जीजाबाई आदि युगों-युगों तक प्रेरणा देती रहेंगी। नैतिकता, सदाचरण व ब्रह्मचर्य पालन में भारतीय पुरुषों की अपेक्षा श्रेष्ठतम् उदाहरण बार-बार पेश करने वाली भारतीय महिलाओं ने पुरातन काल, मध्यकाल में ही नहीं वरन् ब्रितानिया हुकूमत के समय भी भारत की जंग-ए-आजादी में अपनी सक्रिय व अविस्मरणीय भूमिका निभाई है। राजा राम मोहन राय, स्वामी दयानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकानन्द, महात्मा गाँधी ने भारतीय नारी की दशा को समझते हुए नारी-शिक्षा व अन्य क्रान्तिकारी सुधारों को प्रचारित-प्रसारित करने व लागू करवाने का महानतम् कार्य किया। भारत-पाक विभाजन के समय भी सतीत्व के रक्षार्थ, अपने नश्वर शरीर का त्याग करने वाली भारतीय महिलाओं की बलिदान की उच्च परम्परा के कारण ही भारतीय नारी सदैव सम्मान की पात्र रही है। आज भारतीय महिलाएँ शिक्षा व सामाजिक-राजनैतिक क्षेत्रों में अगर अग्रणी स्थानों पर हैं तो वह भारत के इन्हीं महापुरुषों की सोच व प्रयासों का परिणाम है।

अध्ययन का उद्देश्य—

1. महिलाओं की सामाजिक स्थिति का अवलोकन करना।
2. महिलाओं की वास्तविक स्थिति का अध्ययन करना।
3. मध्यप्रदेश के महिलाओं की स्थिति का अवलोकन करना।

अध्ययन क्षेत्र

चूँकि पूरा सीधी जिला आदिवासी बाहुल्य क्षेत्र है जो कि अपनी भौगोलिक स्थिति मध्यप्रदेश के रीवा सम्भाग में सीधी जिला उत्तरी-पूर्वी छोर पर स्थिति है। इसका विस्तार अक्षांस 24.42 डिग्री तक तथा पूर्वी देशान्तर 81.18 से 82.49 तक है। जिले का समुद्र तट से निम्नतम ऊँचाई 243.68 मीटर तथा अधिकतम ऊँचाई 606.60 मीटर है। यहाँ की कुल जनसंख्या 1126515 है (2011)। जिसमें 577091 पुरुष एवं 549424 महिलाएँ हैं। जिसमें लिंग अनुपात 952 है। जिले की लगभग 38.5 प्रतिशत जनसंख्या आदिवासियों की है। जिसमें सीधी ब्लाक में लगभग 72,00 जनसंख्या आदिवासियों की है। इन्हीं आदिवासियों के लगभग 500 परिवारों के सर्वेक्षण एवं अध्ययन पर मेरा शोध कार्य आधारित है।

शोध प्रविधि

प्रस्तुत अध्ययन में शोधार्थी द्वारा सीधी जिले के समीपस्थ ग्रामों में निवासरत महिलाओं के रहन-सहन व क्रिया-कलापों का अध्ययन किया है जिसके अन्तर्गत

साक्षात्कार का प्रयोग किया गया है एवं द्वितीयक आँकड़ों के अन्तर्गत विभिन्न कार्यालयों, शोध-प्रबन्धों, शोध-पत्रों एवं पुस्तकालयों से प्राप्त सूचनाओं को प्राप्त किया गया है।

भारत में महिलाओं की स्थिति

अब भारत में महिलाएँ शिक्षा, राजनीति, मीडिया, कला एवं संस्कृति, सेवा-क्षेत्रों, विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी आदि के क्षेत्र में भागीदारी करती हैं। भारत का संविधान सभी भारतीय महिलाओं की समानता की गारंटी देता है (धारा–14) राज्य द्वारा किसी के साथ लैंगिक आधार पर कोई भेदभाव नहीं करता (धारा–15(1)) सभी को अवसरों की समानता प्राप्त है (धारा–16) समान कार्य के लिए समान वेतन का प्रावधान है (धारा–39(घ)), इसके साथ ही राज्य द्वारा महिलाओं एवं बच्चों के पक्ष में विशेष प्रावधानों की (धारा–15(3)) अनुमति देता है महिलाओ, के सम्मान के प्रति अपमानजनक प्रथाओं के त्याग (धारा–15(अ) (ई), तथा राज्य द्वारा कार्य की न्यायपूर्ण एवं मानवीय स्थितियों तथा प्रसूति राहत को सुनिश्चित करने के प्रावधानों की भी अनुमति देता है (धारा–42)। भारत में महिला आन्दोलन ने 1970 के दशक के अन्त में जोर पकड़ा। मथुरा बलात्कार मामला राष्ट्रीय स्तर के सबसे पहले मामलों में से था जिसने महिला समूहों को एकजुट किया। मथुरा में एक पुलिस स्टेशन में एक लड़की के साथ बलात्कार करने के आरोपी पुलिसकर्मियों को बरी करने का 1979-80 में बड़े स्तर पर व्यापक विरोध हुआ। ये विरोध व्यापक रूप से राष्ट्रीय मीडिया में दिखाए गए तथा इन्होंने सरकार को गवाही कानून, अपराध प्रक्रिया कोड एवं भारतीय पेनल कोड को संशोधित करने के अलावा निगरानी में बलात्कार की श्रेणी बनाने पर विवश कर दिया। महिला आन्दोलकारी कन्या बध, लिंगभेद, महिलाओं की सम्पत्ति एवं महिला साक्षरता जैसे मुद्दों पर एक हो गई।

चूँकि भारत में शराबखोरी को अक्सर महिलाओं पर अत्याचार से जोड़कर देखा जाता है। कई महिला समूहों ने आन्ध्रप्रदेश, हिमाचल प्रदेश, हरियाणा, उड़ीसा, मध्यप्रदेश एवं अन्य राज्यों में शराब-विरोधी अभियान चालू किए। कई भारतीय मुसलमान महिलाओं ने शरीअत कानून के अन्तर्गत महिलाओं के अधिकारों पर धार्मिक नेताओं की विवेचना पर सवाल खड़े किए हैं एवं तिहरे तलाक की प्रथा की आलोचना की है। 1990 के दशक में विदेशी दानदाता एजेन्सियों द्वारा अनुदान के फलस्वरूप महिलाओं पर केन्द्रित नए गैर-सरकारी संस्थाओं को बनाना सम्भव हुआ। स्वयं-सहायता समूहों एवं गैर-सरकारी संस्थाओं जैसे कि सेल्फ एम्प्लॉइड विमेन्स एसोसिएशन ने भारत में महिलाओं के अधिकारों पर महती भूमिका निभाई है। स्थानीय आन्दोलनों की नेताओं के रूप में कई महिलाएँ उभरी हैं। उदाहरण के लिए, नर्मदा बचाओ आन्दोलन की मेधा पाटकर।

भारत सरकार ने 2001 को महिला सशक्तीकरण वर्ष (स्वशक्ति) घोषित किया। सन् 2001 में महिलाओं के सशक्तीकरण को नीति पारित की गई।

भारत में स्त्री-शिक्षा

भारत में वैदिककाल से ही स्त्रियों के लिए शिक्षा का व्यापक प्रचार था। भारत में ऐसा समय भी आया जबकि स्त्री और शूद्र जाति के लिए वेदों को पढ़ना निषिद्ध कर दिया गया था। परन्तु यह धारणा बहुत दिनों तक स्थिर न रह सकी। मुगलकाल में भी अनेक महिला विदुषियों का उल्लेख मिलता है। पुनर्जागरण के दौर में भारत में स्त्री-शिक्षा को नए सिरे से महत्त्व मिलने लगा। ईस्ट इंडिया कम्पनी के द्वारा सन् 1854 में स्त्री-शिक्षा को स्वीकार किया गया था। विभिन्न सरकारी और गैर-सरकारी प्रयासों, के कारण सारक्षरता की दर 0.2 प्रतिशत से बढ़कर 6 प्रतिशत तक पहुँच गया था। कलकत्ता विश्वविद्यालय महिला को शिक्षा के लिए स्वीकार करने वाला पहला विश्वविद्यालय था। 1986 में शिक्षा सम्बन्धी राष्ट्रीय नीति प्रत्येक राज्य को सामाजिक रूपरेखा के साथ शिक्षा का पुनर्गठन करने का निर्णय लिया था। शिक्षा लोकतन्त्र के लिए जरूरी हो गया था और महिलाओं के हालात में बदलाव लाने के लिए जरूरी था। जोन इलियोट जी ने पहला महिला विश्वविद्यालय खोला था सन् 1849 में और उस विश्वविद्याय का नाम बीथुने कॉलेज था। सन् 1947 से लेकर भारत सरकार पाठशाला में अधिक लड़कियों को पढ़ने का मौका देने के लिए अधिक लड़कियों को पाठशाला में दाखिला करने के लिए और उनका स्कूल में उपस्थित बढ़ाने की कोशिश में अनेक योजनाएँ बनाए हैं, जैसे निःशुल्क पुस्तकें, दोपहर का भोजन। सन् 1986 में राष्ट्रीय शिक्षा नीति को पुनर्गठन करने का सरकार ने फैसला किया। सरकार ने राज्य की उन्नति के लिए, लोकतन्त्र के लिए और महिलाओं की स्थिति को सुधारने के लिए महिलाओं को शिक्षा देना जरूरी समझा था। भारत की स्वतन्त्रता की बाद सन् 1947 में विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग को बनाया गया। भारत सरकार ने नूतन में ही महिला साक्षरता की लिए साक्षर भारत मिशन की शुरुआत की है। इस मिशन में महिला की अशिक्षा की दर को नीचे लाने की कोशिश किया जाता है। बुनियादी शिक्षा उन्हें पसन्द है और अपने स्वयं के जीवन और शरीर पर फैसला करने का अधिकार देने, बुनियादी स्वास्थ्य पोषण और परिवार नियोजन की समझ के साथ लड़कियों और महिलाओं को प्रदान करता है। लड़कियों और महिलाओं को शिक्षा, गरीबी पर काबू पाने में एक महत्त्वपूर्ण कदम है। कुछ परिवारों का काम कर रहे पुरुषों दुर्भाग्यपूर्ण दुर्घटनाओं में विकलांग हो जाते हैं, उस स्थिति में परिवार का पूरा बोझ महिलाओं पर टिका रहता है। इन जरूरतों को महिलाओं को पूरा करने के लिए उन्हें शिक्षित किया जाना चाहिए। वे विभिन्न क्षेत्रों में नियोजित किया जाना चाहिए। महिला शिक्षकों, डॉक्टरों, वकीलों और प्रशासक के रूप में काम कर सकती हैं। शिक्षित महिलाएँ अच्छी

माँ हैं। महिलाओं की शिक्षा से दहेज-समस्या, बेरोजगारी की समस्या, आदि को आसानी से दूर किया जा सकता है।

महिलाओं को भारतवर्ष में कानून प्रदत्त तमाम अधिकार प्राप्त हैं। महिलाओं को घरेलू मामलों सम्बन्धी, जायदाद सम्बन्धी, कार्य क्षेत्र, व्यक्तिगत सुरक्षा, संरक्षण सम्बन्धी, पंचायती राज व्यवस्था में भागीदारी सम्बन्धी और भी तमाम हितकारी कानूनों का संरक्षण प्राप्त है। आम महिलाओं को अपना समय घर की चारदीवारी में पारिवारिक दायित्वों को पूरा करते हुए गुजारना पड़ रहा है। परिवार व रिश्तों को सजोने-सँवारने का महती दायित्व निभाने वाली आम महिला आज अपने अधिकारों से वंचित है। जागरूकता व शिक्षा के अभाव में आम महिला के साथ पारिवारिक स्तर पर सब कुछ ठीक-ठाक नहीं है। परिवार की इज्जत, बाल-बच्चों के पालन-पोषण एवं चौके-चूल्हे के चक्रव्यूह में फँसी नारी मन मसोसकर अपना कर्तव्य निभाती चली आ रही है। यह ठीक है कि शीर्ष पदों पर महिलाएँ पहुँचकर महिला शक्ति का परचम लहरा रही हैं। परन्तु समाज की प्राथमिक इकाई परिवार में महिला अपनी जिम्मेदारियों एवं घरेलू हिंसा के पाटों के बीच पिसती जा रही है। यदि आम महिलाएँ अपना कानूनी अधिकार जान जाएँ, उन अधिकारों की प्राप्ति के प्रति मुखरित हो जाएँ। तो परिवार व समाज में एक बड़ा भूचाल आ जाएगा। इससे बड़ा क्रान्तिकारी परिवर्तन महिलाओं के हित का कुछ और हो नहीं सकता कि आम महिला का जीवन शोषण-मुक्त हो जाए।

महिला संरक्षण अधिनियम, 2005 के तहत महिलाओं को पारिवारिक हिंसा के विरुद्ध संरक्षण व सहायता का कानूनी अधिकार प्राप्त है। यदि कोई भी व्यक्ति अपने साथ रह रही किसी महिला को शारीरिक हिंसा अर्थात् मारपीट करना, थप्पड़ मारना, ठोकर मारना, दाँत से काटना, लात से मारना, मुक्का मारना, धक्का देना, धकेलना या किसी और तरीके से शारीरिक क्षति पहुँचाता है तो पीड़ित महिला, महिला संरक्षण अधिनियम, 2005 के तहत सहायता प्राप्त कर सकती है। महिलाओं को लैंगिक हिंसा अर्थात् बलात्कार, लैंगिक मैथुन, जबरन, अश्लील साहित्य पढ़ने या देखने को मजबूर करने पर कोई अन्य प्रकार से अस्वीकार्य लैंगिक दुर्व्यवहार के खिलाफ भी महिला संरक्षण अधिनियम, 2005 में अधिकार प्राप्त हैं। मौखिक और भावनात्मक हिंसा जिसमें अपमान, गालियाँ देना, चारित्रिक दोषारोपण, पुरुष सन्तान न होने के लिए अपमानित करना, दहेज की माँग, शैक्षणिक संस्थान में अध्ययन से रोकने, नौकरी करने से मना करने, घर से निकलने पर, सामान्य परिस्थितियों में व्यक्तियों से मिलने पर रोक, विवाह करने के लिए जबरदस्ती पसन्द शुदा व्यक्ति से विवाह पर रोक, आत्महत्या की धमकी देकर कोई कार्य करवाने की चेष्टा, मौखिक दुर्व्यवहार के साथ-साथ महिलाओं को आर्थिक हिंसा के विरुद्ध भी महिला संरक्षण अधिनियम, 2005 में कानूनी अधिकार प्राप्त है। आर्थिक हिंसा की श्रेणी में महिला को या उसके

बच्चों को गुजारा भत्ता न देना, खाना, कपड़े, दवाइयाँ न उपलब्ध कराना, महिला को रोजगार चलाने से रोकना, या विघ्न डालना, रोजगार करने की अनुमति न देना, महिला द्वारा कमाए गए धन को उसे खर्च न करने देना, घर से निकालने की कोशिश करना, घरेलू उपयोग की वस्तुओं के उपयोग पर पाबन्दी लगाना, किराए के घर में रहने की स्थिति में किराया न देना आदि कृत्य आते हैं।

यदि किसी महिला के साथ घरेलू हिंसा की जाती है तो महिला धारा–18 व धारा–19 के अधीन हिंसा करने वालों के विरुद्ध न्यायालय से आदेश प्राप्त कर सकती है। इन धाराओं के द्वारा महिला घरेलू हिंसा को रोकने के लिए साधारण आदेश अथवा विशेष आदेश की प्राप्ति कर सकती है। महिलाओं को धारा–20 और धारा–22 के अधीन आदेश की प्राप्ति हो सकती है। घरेलू हिंसा की शिकार महिला को धारा–5, धारा–6, धारा–9, धारा–12, धारा–14, धारा–18 से धारा–23 के तहत अधिकार प्राप्त है। इसमें संरक्षण अधिकारी और सेवा प्रदाता की सहायता संरक्षण, घरेलू हिंसा से बचाव के उपाय, घर में शान्तिपूर्ण तरीके से रहने का अधिकार, घरेलू उपयोग की चीजों के उपयोग की अनुमति आदि अधिकार शामिल हैं। अब ध्यान देने की बात यह है कि यदि आज परिवार में महती जिम्मेदारी निभा रही आम महिला अपने इन अधिकारों की बहाली की माँग करने लगे तो क्या होगा? आम भारतीय जनमानस अपने परिवार की महिला से पारिवारिक जिम्मेदारियों के साथ-साथ आर्थिक तरक्की में भी सहयोग तो चाहता है परन्तु महिला को उसका अधिकार देने के नाम पर त्यौरियाँ चढ़ा लेता है। अब भारत की महिलाओं को अपना अधिकार जानना व छीनना पड़ेगा। अब महिलाओं को अपने साथ होने वाले दुर्व्यवहार के विषय में मुखरित होना चाहिए। किसी व्यक्ति के द्वारा महिला से छेड़खानी करने पर महिला को दोषी मानना न्यायसंगत नहीं है। होना तो यह चाहिए कि जिसने गलती की है उसे सजा मिले, परन्तु अधिकतर मामलों में महिलाएँ बदनामी के भय से मैना रहती हैं तथा जाने-अनजाने अपराध करने वाले की मदद कर देती हैं। सजा न मिलने के ही कारण ऐसे तत्त्व वारदातों को अंजाम दे देते है। स्कूली छात्राओं, कामकाजी महिलाओं के साथ ऐसी घटनाएँ रोजमर्रा की विषय-वस्तुओं में शुमार हो चुकी हैं।

वर्तमान दौर में महँगाई आतंक के साये में जी रहे समाज व परिवार की महत्त्वपूर्ण सदस्यों का महिला वर्ग, दोहरी जिम्मेदारी का बोझ उठाने को विवश है। चौके-चूल्हे की आग की तरह प्रतिदिन नारी के मन में आग जलती है। महिलाओं को उनके अधिकारों के प्रति जागरूक करके समाज की अहंवादी सोच को बदलकर हम रिश्ते परिवार व समाज का पुनः निर्माण कर सकते हैं। ऐसा तभी सम्भव हो पाएगा जब महिलाएँ स्वयं जागरूक होकर अपने पैरों पर खड़ी होकर अपने अधिकारों को जानें, उन्हें हासिल करें तथा कर्तव्य-पालन की दिशा में आगे बढ़ती रहें।

महिला सशक्तीकरण

महिला सशक्तीकरण का अर्थ है—महिलाओं की आध्यात्मिक, राजनीतिक, सामाजिक या आर्थिक शक्ति में वृद्धि करना। इसमें अक्सर सशक्तीकृत महिलाओं द्वारा अपनी क्षमता के दायरे में विश्वास का निर्माण शामिल होता है। सशक्तीकरण सम्भवतः निम्नलिखित या इसी प्रकार की क्षमताओं को मिलाकर है—

1. स्वयं द्वारा निर्णय लेने की शक्ति होना।
2. उचित निर्णय लेने के लिए जानकारी तथा संसाधनों की उपलब्धता हो।
3. कई विकल्प उपलब्ध होना जिनसे आप चुनाव कर सकें (हाँ/नहीं, यह/वह ही नहीं)।
4. सामूहिक निर्णय के मामलों में अपनी बात बलपूर्वक रखने की समर्थता।
5. बदलाव लाने की क्षमता पर सकारात्मक विचारों का होना।
6. स्वयं की व्यक्तिगत या सामूहिक शक्ति बेहतर करने के लिए कौशल सीखने की क्षमता।
7. अन्यों की विचारधारा को लोकतान्त्रिक तरीके से बदलने की क्षमता।
8. विकास-प्रक्रिया तथा चिरन्तन व स्वयं की पहल द्वारा बदलावों के लिए भागीदारी, स्वयं की सकारात्मक छवि में वृद्धि एवं धब्बों में उबरन।

महिलाओं की समस्याएँ

1. कन्या भ्रूण हत्या
2. दहेज-प्रथा
3. बाल-विवाह
4. भरत में दुनिया के 40 प्रतिशत बाल-विवाह होते हैं।
5. 49 प्रतिशत लड़कियों का विवाह 18 वर्ष से कम आयु में हो जाता है।
6. लिंगभेद और अशिक्षा का ये सबसे बड़ा कारण है।
7. राजस्थान, बिहार, मध्यप्रदेश, उत्तर प्रदेश और पश्चिम बंगाल में सबसे खराब स्थिति हैं।
8. यूनिसेफ के अनुसार राजस्थान में 82 प्रतिशत विवाह 18 साल से पहले ही हो जाते हैं।
9. 1978 में संसद द्वारा बाल-विवाह निवारण कानून पारित किया गया है। इसमें विवाह की आयु लड़कियों के लिए कम-से-कम 18 साल और लड़कों के लिए 21 साल निर्धारित किया गया है।
10. भारत सरकार ने नेशनल प्लान पर चिल्ड्रेन 2005 में 2010 तक बाल-विवाह को पूरी तरह खत्म करने का लक्ष्य रखा है।

11. जेंडर
12. लिंगभेद
13. महिला साक्षरता
14. बालश्रम
15. रूढ़िवादी सांस्कृतिक नजरिए के कारण लड़कियों को अक्सर पाठशाला जाने के अनुमति नहीं दिया जाता है।

निष्कर्ष एवं परिणाम

गौरवशाली इतिहास और कानूनी अधिकारों के बावजूद आज भारत में आम महिलाओं की स्थिति अच्छी नहीं है। शीर्ष पदों पर महिलाओं के आसीन होने के बावजूद आज आम महिला को उसका अधिकार व सम्मान प्राप्त नहीं है। ग्रामीण अंचलों में नारी-शिक्षा का प्रचार-प्रसार होने के बावजूद अभी अज्ञान की कालिमा मिटी नहीं है। अशिक्षित महिलाओं का अपने अधिकारों की जानकारी न होना, उनका अपने अधिकारों के प्रति जागरूक न होना ही महिला की पीड़ा का, उसकी समस्या का सबसे बड़ा कारण है। विभिन्न कार्यक्रमों के माध्यम से सरकारें महिलाओं को जागरूक करने का प्रयास गैर-सरकारी संगठनों व सरकारी महकमों के माध्यम से जारी रखे हुए हैं। यह सत्य है कि बगैर शैक्षिक व कानूनी जागरूकता के वर्तमान युग में महिलाओं को अधिकार व सम्मान मिलना मुश्किल ही नहीं नामुमकिन है। यह दुर्भाग्यपूर्ण कटु सत्य है कि यत्र नारी पूज्यंते तंत्र रमंते देवता की अवधारणा वाले भारत देश में सामाजिक व पारिवारिक स्तर पर स्त्री की दशा सोचनीय व दयनीय है। समाज के नैतिक पतन का परिणाम है कि जन्मदात्री नारी को पारिवारिक हिंसा का शिकार होना पड़ता है।

सन्दर्भ

1. दलित-विमर्श—सन्दर्भ गाँधी, गिरिराज किशोर, पृ. 28—29।
2. दलित-विमर्श : चिन्तन एवं परम्परा नवम्बर 2005, सम्पादन डॉ. वीरेन्द्र सिंह यादव, पृ.—60।
3. अनिता भारती, अम्बेडकर का मूल चिन्तन है स्त्री चिन्तन (समकालीन नारीवाद और दलित स्त्री का प्रतिरोध नामक उनकी पुस्तक में यह लेख संकलित)।
4. डॉ. ओमप्रकाश टाक आधुनिक भारतीय चिन्तक (पुस्तक)।
5. महिला एवं बाल विकास विभाग म.प्र./युनिसेफ भोपाल।
6. राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन।
7. जागरण।
8. महिला संरक्षण अधिनियम, 2005।

वैश्वीकरण और उदारीकरण के दौर में रोजगार सृजन की सम्भावनाएँ

राम प्रवेश

प्रस्तावना

वैश्वीकरण और उदारीकरण के दौर में रोजगार सृजन की सम्भावना पर विचार करने के समय यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि अर्थव्यवस्था में प्राइवेट सेक्टर का एकाधिकार लगातार बढ़ता जा रहा है। प्राइवेट सेक्टर जो लाभ से प्रेरित होकर निवेश करता है वह अपनी आवश्यकता अनुसार ही श्रमिकों को रोजगार देगा, न कि श्रम बाजार में श्रम की उपलब्धता को ध्यान में रखकर, क्योंकि प्राइवेट सेक्टर का लक्ष्य अपने स्वार्थ की पूर्ति करना है न कि कल्याणकारी लक्ष्यों की पूर्ति करना। इस तरह अर्थव्यवस्था में श्रम की माँग एवं पूर्ति में काफी अन्तर बना रहता है। चूँकि भारत में जनसंख्या में वृद्धि की गति तेज होने के कारण श्रमिकों की, खासतौर पर अकुशल श्रमिकों की संख्या में तेजी से वृद्धि की सम्भावना निकट भविष्य में भी बनी रहेगी और श्रम बाजार में बेरोजगार श्रमिकों की संख्या इकट्ठा होगी। इन श्रमिकों को रोजगार देने का साहस वैश्विक एवं देशी कम्पनियों नहीं होगी। यद्यपि रोजगार सृजन की समस्या आर्थिक समस्या होने के साथ ही एक सामाजिक समस्या भी है। भारत में बेरोजगारी का सम्बन्ध गरीबी एवं श्रमिकों के शोषण से भी है। भारत जैसे विकासशील देशों का यह कर्तव्य होना चाहिए कि वे अपने यहाँ के बेरोजगार श्रमिकों को आवश्यक कौशल प्रशिक्षण प्रदान करके उन्हें उत्पादक कार्यों में रोजगार सृजन की सुविधा प्रदान करें जिससे श्रमिकों की गरीबी दूर हो सके और उनका जीवन-स्तर ऊँचा हो सके और उनका कल्याण हो सके, चाहे रोजगार सृजन के लिए लागत में वृद्धि ही क्यों न हो। प्राइवेट सेक्टर अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए 'सीमान्त निजी लागत' तथा 'सीमान्त

* राम प्रवेश (शोध छात्र) अर्थशास्त्र विभाग डीसीएसके पीजी कालेज, मऊ, (उत्तर प्रदेश), पता - मुहल्ला- अस्तुपुरा, पोस्ट- मऊनाथ भंजन (275101), जिला-मऊ (उत्तर प्रदेश), मोबाईल - 9889186941, 9473556582 ईमेल - rpramprawesmau@gmail.com

निजी लाभ' के सिद्धान्त के आधार पर कार्य करता है, लेकिन इसके विपरीत सरकार का कर्तव्य 'सीमान्त सामाजिक लागत' तथा 'सीमान्त सामाजिक लाभ' के कल्याणकारी विचार पर कार्य करना है। लेकिन प्राइवेट सेक्टर से यह आशा करना कि वह 'सीमान्त सामाजिक लागत' तथा 'सीमान्त सामाजिक लाभ' को ध्यान में रखकर कार्य करेगा, यह न उचित होगा और न ही व्यावहारिक ही होगा। इसी की पुष्टि करने के लिए की भारत सरकार द्वारा प्रकाशित आँकड़ों का उपयोग करते हुए प्रस्तुत शोध-पत्र 'वैश्वीकरण और उदारीकरण के दौर में रोजगार सृजन की सम्भावनाएँ' प्रस्तुत किया जा रहा है।

शोध-पत्र के आकड़ों का संकलन

प्रस्तुत शोध-पत्र 'वैश्वीकरण और उदारीकरण के दौर में रोजगार सृजन की सम्भावनाएँ' में आँकड़ों का संकलन द्वितीयक आँकड़ों के आधार पर प्रस्तुत किया गया है। जैसे—प्रतिष्ठित लेखकों की प्रमाणित पुस्तकें, सरकारी प्रकाशन, अर्ध-सरकारी प्रकाशन, पत्र एवं पत्रिकाएँ, सरकारी अभिलेख, निजी अभिलेख, समाचार-पत्र सरकार के मन्त्रालयों एवं विभागों के रिपोर्ट पर प्रकाशित सामग्रियों का प्रयोग किया गया है और उनका विवेचन शोध-पत्र के अन्त में 'सन्दर्भ' में दिया गया है।

वैश्वीकरण और उदारीकरण की पृष्ठभूमि

1991 में प्रारम्भ हुए वैश्वीकरण और उदारीकरण के आज 28वें वर्ष में है। 1980 के दशक तक एक नई आर्थिक नीति अस्तित्व में आई। दुनिया ने राज्य नियन्त्रित अर्थव्यवस्थाओं की सीमाओं को समझा, बाजार के पक्ष में नए तर्क गढ़े जाने लगे, अर्थात् निजी क्षेत्र को सामूहिक रूप से प्रोत्साहन दिए जाने लगे। अनेक देश अपनी अर्थव्यवस्थाओं को दूसरी अति की ओर ले जाने लगे क्योंकि वे अर्थव्यवस्थाओं में न्यूनतम सरकारी हस्तक्षेप चाहते थे। इस प्रकार वे अपने यहाँ वैश्वीकरण और उदारीकरण की प्रक्रिया को अपनाने लगे। इस प्रकार ये देश सरकारी क्षेत्र वाली कम्पनियों को निजी हाथों में बेचे, इसके साथ ही इन देशों को सलाह भी दी जाने कि अर्थव्यवस्था में सरकारी हस्तक्षेप भी समाप्त कर दे। इन देशों को यह भी सलाह दी जाने लगी कि ऐसी व्यवस्था उत्पन्न करे जिससे उनकी अर्थव्यवस्था में माँग उत्पन्न हो सके यानी (वृहत अर्थशास्त्री उपाय)। इस प्रकार बनाई गई विकास-प्रक्रिया को आम तौर पर 'वाशिंगटन सहमति' के नाम से जाने लगा। इस प्रकार इस सहमति को भारत में 'आर्थिक सुधार' कहे जाने लगा।

1990-91 के संकटग्रस्त अर्थव्यवस्था को निकालने के लिए भारत सरकार ने वैश्वीकरण और उदारीकरण की नीति को लागू करने के लिए उपाय किए सातवीं योजना के शुरुआत से ही इस पर काम किया जाने लगा। आर्थिक सुधारों के लिए

1991 में घोषित की गई नीतियों में दो प्रमुख आर्थिक तत्त्वों—समष्टि आर्थिक स्थिरीकरण और ढाँचागत सुधार को महत्त्व दिया गया।

वैश्वीकरण और उदारीकरण के दौर में वर्तमान भारत

वैश्वीकरण और उदारीकरण के दौर में भारत में बहुत तेजी से विदेशी प्रौद्योगिकी का विस्तार हो रहा है। इसमें कोई दो राय नहीं है कि वैश्वीकरण और उदारीकरण से देश की अर्थव्यवस्था में असीमित वृद्धि हुई है, लेकिन यह भी सच है कि आर्थिक सुधार ने उसी हिसाब से रोजगार सृजन नहीं की है एक तरफ भारत को श्रम-शक्ति जहाँ 2. 5 प्रतिशत वार्षिक दर के हिसाब से बढ़ रही है वहीं दूसरी तरफ रोजगार सृजन की वृद्धि मात्र 2.3 प्रतिशत के दर बढ़ रही हैं। इस तरह देश को रोजगार बाजार में जहाँ न सिर्फ नए लोगों (70 लाख प्रतिवर्ष) का समावेश न कर पाने की चुनौती लगातार झेलनी पड़ रही हैं, वहीं बैक-लॉग को पूरा न कर पाने की समस्या का सामना करना पड़ रहा है। भारत के श्रम बल का 60 प्रतिशत स्व-रोजगार है, जिसमें से 85 प्रतिशत गरीबी रेखा के नीचे या उससे किंचित ऊपर हैं। 1990 के दशक में एलपीजी (उदारीकरण, निजीकरण, वैश्वीकरण) को लागू करने के दस दिन के भीतर ही इस विकास की पहचान 'जॉबलेस ग्रोथ' के तौर पर उसी मांटेक सिंह अहलूवालिया ने की थी, जो इस नीति के समर्थक थे। वर्तमान व्यवस्था में जितने भी रोजगार के अवसर सृजित हो रहे हैं उससे ज्यादा रोजगार के अवसर खत्म भी हो रहे हैं। कौशल विकास और रोजगार सृजन के लिए सरकार द्वारा किए जा रहे प्रयास के बाद भी स्थिति गम्भीर बनी हुई है। जॉबलेस ग्रोथ भारत को जॉबलेस इंडिया की ओर ले जा रहा है। इसका विनाशकारी असर वेतन, सेवा शर्तें, संविदा रोजगार में वृद्धि और मजदूरों के पतन पर दिखने लगा है। सरकार इस सच्चाई को मानने को तैयार नहीं है कि श्रम प्रधान क्षेत्र बर्बाद हो चुके हैं या हो रहे हैं। 55 प्रतिशत अर्थव्यवस्था में रोजगार का सृजन करने वाला क्षेत्र-कृषि क्षेत्र की हालत खराब हो चुकी है, ये क्षेत्र पूरे विश्व में किसानों की हजारों नहीं, लाखों की संख्या में आत्महत्या के लिए कुख्यात हो चुका है। किसानों की हालत के लिए जिम्मेदार दलालों की मर्जी से संचालित कृषि विपणन व्यवस्था है। लघु एवं कुटीर उद्योग जो रोजगार सृजन के मामले में कृषि के बाद दूसरा स्थान रखता है, के अनेक पारम्परिक प्रशिक्षण केन्द्र ध्वस्त हो चुके हैं। एलपीजी सुधारों, विदेशी निवेश, वैश्विक कम्पनियों के आगमन के कारण इस तरह के हालात पैदा हुए हैं। लघु एवं कुटीर उद्योग के पारम्परिक केन्द्र फरीदाबाद, अमृतसर या दक्षिणी भारत के होसुर जैसे क्षेत्र हुआ करते थे। कृषि और लघु उद्योग, इन दो क्षेत्रों में ही लगभग 85 प्रतिशत रोजगार सृजन हुआ करता था। रोजगार सृजन करने वाले बड़े अन्य क्षेत्र कपड़ा, बीड़ी, और निर्माण उद्योग हैं, ये सभी संकट में हैं। इन हालातों में सरकार कोई जादू की छड़ी नहीं है कि इससे छुटकारा प्राप्त किया जा सके। सरकार द्वारा भारत में एफडीआई के लिए खोला गया द्वार हमारे कुटीर, लघु और मझोले और

छोटे कारबारियों को बर्बाद कर के रख दिया है। ई-कामर्स के बड़े कारोबारी जैसे अमेजन, फ्लिपकार्ट, स्नैपडील वगैरह ने क्षेत्रीय कारबारियों को बर्बाद कर दिया है।

मुद्दा वर्ष 2020 तक भारत की तीव्रतम विकास हमारी समस्या बन सकती है, क्योंकि तेज आर्थिक विकास के साथ रोजगार की वृद्धि दर नहीं बढ़ पा रही है। आर्थिक मन्दी से उबरने के लिए प्रयासरत भारत सरकार के सामने एक नई मुसीबत देशी कम्पनियों के रिपोर्ट के रूप ने मुश्किलें बढ़ा दी। इस रिपोर्ट के अनुसार वर्ष 2013-14 से लेकर 2017-18 के दौरान भारत के निगम क्षेत्र के लिए बीते 25 वर्ष का सफर बुरे दौर से गुजर रहा है। इस दौरान कम्पनियों के रूप में बिक्री, वृद्धि, फायदा कर से लेकर श्रमिकों को मिलने वाले वेतन तक पर असर पड़ा है। चौंकाने वाली बात यह है कि सरकारी क्षेत्र की कम्पनियों से लेकर निजी क्षेत्र तक की कम्पनियों पर भी लागू होता है। विदेशी मालिकाना वाली कम्पनियों के लिए यह नियम थोड़ा अलग है। सेंटर फॉर मॉनिटरिंग इंडियन इकोनॉमी के डेटा से पता होता है कि इन कम्पनियों का वार्षिक बिक्री मात्र 6 प्रतिशत ही रही है। 5 वर्ष की अवधि 1993-1994 के बाद सबके कम बिक्री का विकास है वित्त वर्ष 2002-03 और 2007-08 के दौरान इन कम्पनियों का औसत बिक्री योग्य आय 21.2 प्रतिशत था लेकिन उदारीकरण के बाद सबसे ज्यादा बिक्री की वृद्धि थी। गत 5 वर्ष में कर चुकाने के बाद लाभ औसतन हर वर्ष 4.7 प्रतिशत कम हुई।

श्रमिकों के औसतन मासिक वेतन में रिकॉर्ड गिरावट

उपभोक्ता वस्तुओं की बिक्री में गिरावट का मूल कारण श्रमिकों की क्रय-शक्ति में गिरावट है, जो आबादी का 90 प्रतिशत का प्रतिनिधित्व करता है। नियमित रोजगार वाले श्रमिकों 2017-18 में औसतन वेतन 17000 रुपए था। मुद्रास्फीति का समायोजन करने के पश्चात यह वेतन 2011-12 के वेतन से भी कम है, जिसका मतलब यह है कि 7 वर्षों में नियमित रोजगार वाले श्रमिक और गरीब हो गए हैं। अनियमित श्रमिकों को 2011-12 की तुलना में थोड़ा-सा अधिक वेतन प्राप्त हो रहा है लेकिन फिर भी नियमित श्रमिकों के वेतन के आधे से भी कम है। श्रमिकों के वेतन कम होने का एक प्रमुख कारण नियमित कार्यों के लिए संविदा और आउटसोर्सिंग के माध्यम से श्रमिकों की भर्ती करना है। भारतीय ऑटो उद्योग में वर्ष 2000 में औसतन वेतन देश-भर के उत्पादन उद्योगों में औसतन वेतन से 75 प्रतिशत अधिक था। लेकिन 2015 के वर्ष में ऑटो उद्योग का औसतन वेतन उत्पादन उद्योग के औसतन वेतन से केवल 10 प्रतिशत अधिक रहा है कम वेतन पर बड़ी संख्या में संविदा श्रमिकों को लगाने से वेतन के अन्तर में वृद्धि हुई है। श्रमिकों के औसतन मासिक वेतन में गिरावट के साथ-साथ हर साल के दिनों में एक के बाद कई क्षेत्रों में व्यापक स्तर पर नौकरियों में कमी की गई।

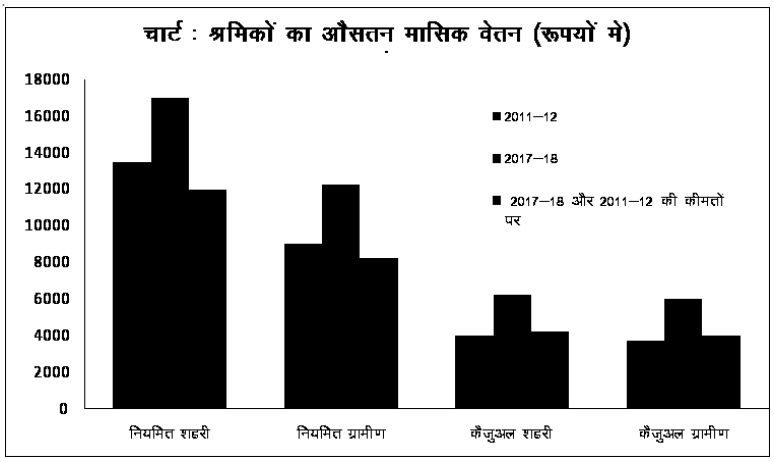

स्रोत : एन.एस.एस.ओ. आवधिक श्रम बल सर्वेक्षण

संकेत : 'कैजुअल' दैनिक मजदूरी की व्याख्या करता है जबकि 'नियमित' में स्थायी और संविदा श्रमिक हैं जो औसतन मासिक वेतन प्राप्त कर रहे हैं।

औपचारिक क्षेत्र में रोजगार सृजन की चुनौतियाँ

सीएमआईई के उपभोक्ता पिरामिड घरेलू सर्वेक्षण (सीपीएचएस) जनवरी-अप्रैल 2017 के अनुसार 404.7 मिलियन व्यक्ति कार्यरत थे। इनमें से केवल 21 प्रतिशत लोगों को ही रोजगार दिया गया, जिसे उचित अर्थ में रोजगार कहा जा सकता है। ये श्रमिक औद्योगिक कारखानों में सहायक कर्मचारी, प्रबन्धक आदि हैं। इस तरह रोजगार में 86 मिलियन लोग थे। यदि भारत को 86 मिलियन रोजगार प्रदान करने में कई दशक लग जाते हैं तो केवल पाँच वर्षों में 20 मिलियन रोजगार प्राप्त करने के लिए लम्बा आदेश था। लेकिन यह सबसे कम जरूरत है। औपचारिक क्षेत्र में रोजगार सृजन एक बड़ी चुनौती है, लेकिन इसमें गिरावट दर्ज की गई है। जनवरी-अप्रैल 2016 के दौरान 93 मिलियन रोजगार का सृजन हुआ था। जो मई-अगस्त 2016 में 89 मिलियन और फिर सितम्बर-दिसम्बर 2016 में 86 मिलियन तक गिर गया। जनवरी-अप्रैल 2017 में ये 86 मिलियन पर स्थिर था। एक वर्ष की तुलना में औपचारिक नौकरियों में लगभग 7 मिलियन की गिरावट आई है। केवल एक बड़ा घरेलू सर्वेक्षण औपचारिक क्षेत्र के साथ-साथ अनौपचारिक क्षेत्र पर आँकड़ा उपलब्ध कर सकता है ऐसा इसलिए है क्योंकि अनौपचारिक क्षेत्र का आकार बहुत बड़ा है। रोजगार/बेरोजगारी और रोजगार सृजन दोनों का अनुमान लगाने के लिए सरकार फास्ट-फ्रीक्वेंसी घरेलू सर्वेक्षणों पर ध्यान केन्द्रित करेगी। विकसित देशों की तरह रोजगार सृजन के अनुमान लगाने के लिए एक उद्यम सर्वेक्षण के लिए भारत अभी तैयार नहीं है।

रोजगार सृजन की सम्भावनाएँ

रोजगार उपलब्ध कराने के लिए सरकार की ओर से योजनाएँ तो खूब बनाई जा रही हैं लेकिन फिर भी ये योजनाएँ भरपूर रोजगार सृजन नहीं कर पा रही हैं। इस दौर में संयुक्त राष्ट्र का अनुमान है कि 2018 में भी रोजगार सृजन की सम्भावनाएँ न्यूनतम थीं। संगठित और असंगठित क्षेत्र में जो रोजगार थे, वे धीरे-धीरे खत्म हो रहे हैं। श्रम प्रधान की जगह पूँजी प्रधान उद्योग-धन्धे से रोजगार सृजन की प्रवृत्ति थम-सी गई हैं। आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस की तकनीक आने से एक तरह जहाँ कामकाज की सुविधाएँ बढ़ीं लेकिन इसके दक्ष कर्मियों की कमी भी बनी हुई है। पारम्परिक कुशल कर्मचारी बेरोजगार होते जा रहे हैं। कम्पनियाँ रोबोटिक्स सिस्टम में निवेश कर इन्हें बढ़ावा दे रही हैं। यानी आने वाले समय में जो काम मानव करता था वह काम अधिकतर मशीनों द्वारा किया जाएगा। इस सम्बन्ध में सरकार को इस दिशा में आवश्यक कदम उठानी चाहिए। रोजगार के मामले यह महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुआ कि कम्पनियों ने अब स्थायी मजदूर रखना बन्द कर दिए हैं और वे अस्थायी दैनिक, मजदूरी या ठेके (ठेकेदार के माध्यम) पर मजदूर रखने लगे या कार्य को आउटसोर्सिंग पर कराने लगे। इससे उन श्रम लागतों में काफी बचत होती है। सरकार भी इन कार्यों में कम्पनियों का सहयोग करने लगी क्योंकि अन्तरराष्ट्रीय बाजार में भारतीय माल प्रतिस्पर्धी बन सके जिससे निर्यात बढ़ेगा और विदेशी पूँजी भारत आ सके। लेकिन इससे वास्तविक मजदूरी कम हो रही है। जिससे श्रम का शोषण बढ़ रहा है, सरकारी क्षेत्रों ने भी निजी कम्पनियों के इस शोषण कारी नीति को अपनाकर स्थायी शिक्षकों की जगह गेस्ट-शिक्षकों की भर्ती कर रही है और जब चाहे उन्हें नौकरी से बेदखल किए जा सकते हैं। उदारीकरण के दो दशक बाद भी भारत की कुल श्रम शक्ति का मात्र 7 प्रतिशत से भी कम संगठित क्षेत्र में है लेकिन असंगठित क्षेत्रों में जिनमें किसान, पशुपालक, मछुआरे, खेतिहर मजदूर, हम्माल, घरेलू नौकर, असंगठित मजदूर, फेरीवाला और दुकानदार हैं जिनकी हालत खराब है। भारत-भर में असंगठित क्षेत्र के श्रमिकों पर कलकत्ता विश्वविद्यालय की ओर से 2018 में जारी एक अध्ययन से पता चलता है कि 2012 में अनौपचारिक क्षेत्र के आधे से अधिक श्रमिक स्वय नियोजित थे। मोटे तौर पर एक गरीब सम्पत्ति-बेस के साथ और लगभग 30 प्रतिशत दिहाड़ी मजदूर आकस्मिक मजदूर थे। नियोजित लोगों में से लगभग 18 प्रतिशत नियमित श्रमिक और उनमें से 8 प्रतिशत से भी कम लोगों के पास सामाजिक सुरक्षा के साथ नियमित पूर्णकालिक रोजगार था।

बड़े उद्योगों में रोजगार पैदा करने की ज्यादा उम्मीद मृग-मरीचिका होगी। अब भी कुछ क्षेत्रों में रोजगार पैदा करने की काफी सम्भावनाएँ हैं। हमारे हर शहर, हर गाँव

और हर मुहल्लों में ऐसी समस्याएँ मिल जाएँगी जिन्हें आर्थिक अवसरों में बदला जा सकता है। जैसे ग्रामीण युवाओं को अंग्रेजी और कम्प्यूटर की जानकारी देना। ऐसे और भी कई उदाहरण हो सकते हैं। अगर हम ऐसा कर पाए तो भविष्य के किसी सामाजिक टकराव से बच सकते हैं। 'पिछले 45 साल की तुलना में साल 2017-18 में देश में बेरोजगारी दर बढ़कर 6.1 प्रतिशत हो गई अंग्रेजी अखबार बिजेनस स्टैंडर्ड इस रिपोर्ट का खुलासा किया है। (राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण कार्यालय) के पारिवारिक लेबर फोर्स सर्वे (पीएसएसओ) की रिपोर्ट में यह बात सामने आई। साल 2011-12 में ग्रामीण युवा पुरुषों (15-29) आयु-वर्ग में बेरोजगारी की दर 5 प्रतिशत जबकि 2017-18 में बढ़कर 17.4 प्रतिशत हो गई, वहाँ उसी आयु-वर्ग की ग्रामीण महिलाओं में बेरोजगारी दर 2011-12 की तुलना में 4.8 प्रतिशत से बढ़कर 2017-18 में 17. 3 प्रतिशत हो गई। इसी तरह ग्रामीण शिक्षित महिलाओं में 2004-05 से 2011-12 तक बेरोजगारी की दर 9.7 प्रतिशत से बढ़कर 15.2 प्रतिशत के बीच थी जबकि साल 2017-18 में यह बढ़कर 17.3 प्रतिशत हो गई। वहीं इस दौरान श्रम बल की भागीदारी दर (सक्रिय रूप से नौकरी चाहने वाले लोगों की संख्या) भी कम हो गई। श्रम बल की भागीदारिता दर 2004-05 से बढ़कर 2011-12 में 39.9 प्रतिशत हो गई वहीं 2017-18 घटकर 36.9 प्रतिशत हो गई।

वैश्वीकरण और उदारीकरण के दौर में रोजगार सृजन के लिए सरकारी प्रयास

रोजगार सृजन के लिए भारत सरकार श्रम बाजार की स्थितियों में सुधार के लिए बहुत प्रयास कर रही हैं। इनमें रोजगार की अधिकता के साथ विकास, सामाजिक सुरक्षा का दायरा बढ़ाने, श्रमिक सुधार आदि का समावेशन है जिसका विवरण अग्रलिखित हैं—

हाल के दिनों में सरकार द्वारा स्टार्ट अप इंडिया, स्टैंड अप इंडिया, अटल नवसृजन मिशन, अमृत शहर परियोजना, डिजिटल इंडिया, राष्ट्रीय कैरियर सेवा योजना, मेक इन इंडिया, स्किल इंडिया, राष्ट्रीय विनिर्माण नीति इत्यादि योजनाओं के जरिए रोजगार सृजन के लिए प्रयास किया जा रहा है। रोजगार सृजन के प्रयास करने के लिए दो पक्ष हैं : आपूर्ति पक्ष और माँग पक्ष। माँग पक्ष में वृद्धि के लिए मेक इन इंडिया और राष्ट्रीय विनिर्माण नीति योजनाएँ हैं, और इन दोनों योजनाओं की मदद के लिए अमृत शहर परियोजना, स्टार्ट अप इण्डिया, स्टैंड अप इंडिया हैं। इसके बाद आपूर्ति पक्ष को प्रोत्साहित करने के लिए कृषि से सम्बन्धित उद्योगों, कपड़ा उद्योग जैसे श्रम प्रधान उद्योगों और शिक्षा और स्वास्थ्य आदि में निजी निवेश में वृद्धि करके रोजगार सृजन किया जा सकता है। भारत सरकार ने रोजगार सृजन के लिए बड़ी संख्या में कौशल प्रशिक्षण केन्द्रों को स्थापित कर रही है देश भर में विस्तारित 12

हजार औद्योगिक प्रशिक्षण केन्द्रों के सहारे 126 ट्रेंडो में व्यावसायिक प्रशिक्षण दिया जा रहा है समावेशी विकास के लिए सरकारी रोजगार सृजन कार्यक्रमों के व्यय का लिमिट बढ़ाना चाहिए। रोजगार सृजन के लिए राष्ट्रीय स्तर पर महात्मा गाँधी राष्ट्रीय ग्रामीण योजना (मनरेगा), प्रधानमन्त्री रोजगार सृजन योजना (पीएमईएमजी), पं. दीनदयाल उपाध्याय ग्रामीण कौशल योजना (डीडी-जीकेवाई), प्रधानमन्त्री रोजगार प्रोत्साहन योजना आदि योजनाओं का संचालन सुचारु रूप से किया जा रहा है।

सन्दर्भ

पांडेय नरेश राम—विश्व व्यापार संगठन तथा भारतीय अर्थव्यवस्था।

बंका दीपक—भारतीय सामर्थ्य एवं चुनौतियाँ।

गौतम राज पुष्प, गौतम विद्यापति—भूमंडलीकरण के दौर में श्रम तथा रोजगार की चुनौतियाँ।

जालान विमल—भारत की अर्थनीति।

पत्रिका पेपर 26 अगस्त, 2019—ग्लोबलाईजेशन के बाद बुरे दौर में पहुँची देशी कम्पनियाँ।

सिंह रमेश—भारतीय अर्थव्यवस्था।

योजना सितम्बर 2018।

एन.एस.एस.ओ. आवधिक श्रम बल सर्वेक्षण 2017-18।

आउटलुक पत्रिका 22 अक्टूबर—गुमराह सुधारों से बेहाल हुई अर्थव्यवस्था।

https://www.cmie.com

इक्कीसवीं सदी की मुस्लिम हिन्दी कहानियाँ : सांस्कृतिक सन्दर्भ

डॉ. पठान रहीम खान

भारत एक बहुसांस्कृतिक राष्ट्र है जहाँ अनेक संस्कृति के लोग एक साथ रहते हैं। भारतीय संस्कृति हिन्दू, मुस्लिम, सिख, इसाई, जैन, बौद्ध आदि संस्कृति का मिला-जुला रूप है। इस कारण आपस में सांस्कृतिक आदान-प्रदान होता रहता है। यही कारण है कि किसी-न-किसी क्षेत्र में सांस्कृतिक दृष्टि से लोग इतना घुम-मिल गए हैं कि अन्तर करना मुश्किल होता है। फिर भी मुस्लिम समाज की संस्कृति मुस्लिम धर्म से सम्बन्धित होने के कारण बहुत हद तक अन्य धर्मों की संस्कृतियों से भिन्न ही पाई जाती है।

मुस्लिम समाज का व्यक्ति अपने धार्मिक त्योहार और अन्य धर्म से सम्बन्धित धार्मिक कार्यक्रम इस्लामिक मान्यताओं के अनुसार ही करता है। चाहे शादी हो या मृत्यु-संस्कार वह इस्लामिक संस्कृति के अनुसार ही करता है। रमजान महीने में सेहरी के लिए लोगों को जगाने के लिए नाथ-ए-कलाम पढ़ना यह एक इस्लाम की संस्कृति है। नार्थ-ए-कलाम सुनकर रोजा रखने के लिए जग जाते हैं। गुलशेर खाँ शानी की 'डाली नहीं फूलती' कहानी में सेहरी के वक्त का चित्रण करते हुए कहते हैं कि—''गली का सन्नाटा एकाएक फिर टूटा। बाजू वाले मकान के सामने सेहरी के लिए जगाने वाले कोई बड़ी अच्छी-सी नाथ पढ़ रहे थे।''[1]

इसी प्रकार इनकी 'नंगे' कहानी में इस्लाम में रीति-रिवाज का चित्रण किया गया है। जैसे कि—रुबीना का पति कहता है—''कपड़े-लत्ते या दावत-मेजबानी न सही, कई चीजें हैं, जो टाली नहीं जा सकतीं। मसलन, रोजे रखे-न-रखे फितरा जकात निकलना है, सेहरी जगाने वालों का कर्ज है, आपस की रिश्तेदारी है और रुबीना कह

डी.लिट्., असिस्टेंट प्रोफेसर (हिन्दी), हिन्दी विभाग, मौलाना आजाद नेशनल उर्दू यूनिवर्सिटी, गच्ची बौली, हैदराबाद-500032, तेलंगाना-राज्य, मो. 9440214888, E-mail : drprahimkhan@gmail.com

रही थी, इस साल बाहर से बहुत फकीर आए हैं।''[2] इस प्रकार मुस्लिम समाज के रीति-रिवाज का चित्रण किया गया है।

अब्दुल बिस्मिल्लाह की 'जीना तो पड़ेगा' कहानी में मुस्लिम समाज के रीति-रिवाज का चित्रण किया गया है। जैसे इस कहानी में कहा गया है कि—''आकिल साहब पढ़े-लिखे नहीं थे। कुरान शरीफ जो कि हर मुसलमान के लिए पढ़ना लाजिमी है, उन्होंने वह भी नहीं पढ़ा था। मगर रोजा-नमाज के सख्त पाबन्द थे। नमाज के लिए वक्त का इतना ध्यान रखते थे कि हर आते-जाते से हमेशा टाइम पूछते रहते थे। जैसे ही उन्हें पता चलता कि नमाज का वक्त हो गया है, वजू करके वे फौरन नमाज के लिए खड़े हो जाते थे।''[3] इस प्रकार मुस्लिम समाज में नमाज पढ़ना एक सांस्कृतिक कार्य है। मुस्लिम समाज की यह एक परम्परा भी है। मुस्लिम समाज में नमाज के साथ-साथ त्योहार, जकात, सदका, खैरात देना यह भी इस्लाम की धार्मिक परम्परा के अन्तर्गत ही आते हैं।

इसी प्रकार नासिरा शर्मा की 'वही पुराना झूठ' कहानी में नमाज का चित्रण किया गया है। इस कहानी में लेखिका का कहती है कि—''अजान के वक्त रज्जो बी की आँख खुली तो उन्होंने देखा कि सारा घर नमाज के लिए सफ बाँधे खड़ा है।'' इस प्रकार नमाज पढ़ते समय सफों का ख्याल करके, एक साथ मिलकर नमाज पढ़ते हैं। यह मुस्लिम समाज की संस्कृति है।

इसी प्रकार नासिरा शर्मा की 'कनीज बच्चा' कहानी में मुस्लिम संस्कृति को दर्शाते हुए नमाज के बाद माँगी जाने वाली दुआ को अभिव्यक्त किया गया है। जैसे कि ''जानमाज बिछाकर उन्होंने नमाज पढ़ी, फिर खुदा की बारगाह में विनती की, ''शब्बीर को अक्ल और समझ दे। भाइयों के दिलों में एक महीने लम्बी खामोशी के बाद काले आसमान पर नया चाँद निकला था...''[4] इस प्रकार मुस्लिम समाज में नमाज के बाद अपने परिवार की सलामती के लिए खुदा से दुआ माँगी जाती है।

नासिरा शर्मा की 'पाँचवाँ बेटा' कहानी में मुस्लिम संस्कृति का चित्रण किया गया है। प्रस्तुत कहानी में मोहर्रम की तैयारी के लिए अमतुल इमामबाड़े को साफ करके उसकी रौनक बढ़ा दी जाती है। इस कहानी में लेखिका कहती है कि—''मोहर्रम का चाँद हो गया था। औरतों ने चूड़ियाँ बढ़ा, नाक की कील छोड़कर कान, गले, पैर, हाथ के सारे जेवर उतार दिए थे। तसलों में हरा-काला रंग घुल गया था, जिसमें कपड़े रँग-रँगकर अलगनी पर फैलने लगे थे। अमतुल की मदद करने बड़ी बहन शाहेदा की पोती रौनक कानपुर से आई थी। अब दादी-पोती इमामबाड़े को धो-पोंछकर तख्त पर बिछी सफेद चादर पर 'जरी' रख रही थीं। उसके छोटे दरों और खिड़कियों पर कुमकुमे लगा रही थीं।''[5] इस प्रकार मोहर्रम की तैयारी की गई है। मोहर्रम का त्योहार अधिकांश मुस्लिम लोगों के लिए शोक-त्योहार है। क्योंकि कर्बला की लड़ाई हुई थी। इस लड़ाई में हजरत मुहम्मद साहब के नवासों की शहादत हुई थी। इसलिए मोहर्रम का त्योहार उनकी शहादत की याद में मनाया जाता है।

नासिरा शर्मा की 'पाँचवाँ बेटा' कहानी में इसका सही चित्रण हुआ है कि—''मातम जोरों पर था। 'या हुसैन' की आवाज बाहर तक आ रही थी।...जब हदीस शुरू होती तो कर्बला के दर्दनाक बयान को सुनकर उनके अन्दर दबा दर्द का लावा फूट पड़ता। हुसैन के नाम पर जानू पीट-पीटकर रोतीं और वह सब कुछ आँसुओं में बहा देतीं...''[6] इस लड़ाई में मासूम असगर की भी शहादत हो जाती है। इसी प्रकार प्रस्तुत कहानी में अमतुल कहती है कि ''मासूम असगर को भी जालिमों ने पानी न दिया, हुसैन को धोखे से बुलाकर...''[7] इस प्रकार मोहर्रम का त्योहार उत्साह एवं खुशी का नहीं, बल्कि गम और शहादत का है। कुछ लोग इसे जल्लोस और उत्साह से मनाते हैं यह भी एक सत्य है।

भारतीय समाज में मृत्यु-संस्कार की विधियाँ प्रत्येक धर्म की अलग-अलग होती हैं। मुस्लिम व्यक्ति का मृत्यु-संस्कार इस्लाम धर्म के नियमों के अनुसार ही किया जाता है। जैसे इस्लाम धर्म की मान्यता है कि मृतक को सही तरीके से जनाजे का स्नान कराना, कफन का सही तरीके से पहनाना और अन्त में जनाजाह की नमाज पढ़ना फर्ज है। यह सब इस्लाम की मान्यता है, जिसे हर मुस्लिम व्यक्ति की मृत्यु के बाद उसको पूरे नियमों से अन्तिम संस्कार किया जाता है।

गुलशेर खाँ शानी 'मरे हुए चहरे' कहानी के माध्यम से यह बताने की कोशिश की है कि—मुस्लिम समाज में तकियादार का क्या किरदार होता है? उसकी क्या जिम्मेदारी होती है? और लोगों की प्रतिक्रिया तकियादार के खिलाफ कैसी होती है? इसका यथार्थपूर्ण चित्रण प्रस्तुत कहानी में किया गया है। इसके अतिरिक्त मरहूम का कफन-दफन हो जाने के बाद 'कातिहा' या दुआ पढ़ी जाती है यह भी स्पष्ट किया गया है। जैसे कि—''भीड़ से आगे निकलकर जुम्मन ने ताजा कब्र के पास से कुदाली, फावड़े और घमेले उठाकर एक तरफ किए, जनाजे के ऊपर की चादर गोल-गोलकर जरा दूर उछाल दी और अगरबत्ती की समूची पुड़ी जलाकर, मिट्टी में खोंस तेजी से हट गया। लोगों ने फातिहा पढ़ने के लिए हाथ उठा लिये थे। सबसे पीछे पहुँचकर जुम्मन ने भी हथेलियाँ फैलाईं और साथ-साथ मुँह पर हाथ फेर लिया।''[8] इस प्रकार इस कहानी मे मृत्यु संस्कार को स्पष्ट किया गया है।

अब्दुल बिस्मिल्लाह की 'खून' कहानी में मृत्यु संस्कार का सही चित्रण किया हुआ है। इस कहानी में साहब का बेटा और उनकी पत्नी विदेश में रहते हैं। इसलिए उनकी मृत्यु के बाद उनकी जनाजा-ए-नमाज पढ़ाने के लिए इजाजत देने वाला यहाँ पर कोई नहीं था। इसी वजह से मौलवी बरकत उल्लाह ने जनाजा-ए-नमाज पढ़ाने से इनकार कर देते हैं। तब साहब का पी.ए. मिस्टर आनन्द राघवन उनके रिश्तेदार की तलाश करता है। तब कहीं से साहब की साली का लड़का असलम का पता चलता है। उसको बुलाकर साहब के जनाजा-ए-नमाज की इजाजत माँगी जाती है। असलम साहब के जनाजे के पास आता है। तब ''मौलवी बरकत उल्लाह ने मिस्टर आनन्द

राघवन की ओर देखा। उन्होंने असलम को आगे-आगे कर दिया 'हाँ तो असलम' मौलवी साहब ने पूछा, 'इजाजत है?' 'जी, इजाजत है।' असलम के इतना कहते ही जनाजे की नमाज शुरू हो गई।''[9] इस प्रकार इस्लाम में मय्यत को दफनाने से पहले उसकी जनाजे की नमाज पढ़ाने की किसी रिश्तेदार से इजाजत माँगी जाती है।

अब्दुल बिस्मिल्लाह की 'चमगादड़' कहानी में व्यक्ति के आचार-विचार को अभिव्यक्त किया गया है। इस कहानी में करीम सभी ग्राहकों का अपने व्यवहार से दिल जीत लेता है। इसलिए अमरूद खरीदने लोग उसी के बाग में आते हैं। लेखक का कहना है कि—''खरीदारों के लिए फलों का भाव बाजार की अपेक्षा बाग में तेज ही हुआ करता था, मगर बूढ़ा करीम बाजार से पचास पैसे कम में ही अमरूद दिया करता था। इसके अलावा करीम बूढ़े की आदरत यह भी थी कि वह खुद अमरूद नहीं तोड़ता था। वह ग्राहक को ही लग्गी थमा देता और कहता है कि ''जिस पेड़ का जो अमरूद चाहो तोड़ लो।'' अमरूद तोड़ते वक्त अगर एक-दो अमरूद कोई खा लेता तो वह बुरा न मानता। करीम बूढ़े का यह पक्का यकीन था कि खुदा दूना देता है। उसके इस व्यवहार ने इलाके भर के लोगों का दिल जीत लिया था और करीम बूढ़े को अब किसी बात की कमी नहीं थी।''[10] इस प्रकार करीम अपने व्यवहार और आचार-विचार से लोगों के दिल में जगह बना लेता है।

व्यक्ति की पहचान अपने आचार-विचार से होती है। समाज में छोटे-बड़ों का आदर करना और अपनी पुरानी दुश्मनी को भूलकर उनको अपने गले लगा लों यही इस्लाम की मान्यता है। साथ ही गैरों से अपने जैसा सलूक करो, यही इस्लाम की पहचान है। गुलशेर खाँ शानी 'नंगे' कहानी में कहते हैं कि—''ईदगाह में छुते हुए लोग मौका निकालकर वहाँ भी आपस में गले मिल रहे थे। कब्रिस्तान का माहौल भी आज के दिन कैसा अजीब-सा होता है!''[11] इस प्रकार मुस्लिम समाज के लोग ईद की नमाज के बाद, लोग कब्रिस्तान में अपने पूर्वजों के लिए दुआएँ माँगने जाते हैं। जो लोग ईदगाद में नमाज के बाद मिल नहीं सके, वह लोग कब्रिस्तान में मौका पाकर ईद की मुबारकबाद देते हैं। जिसमें अपनापन है और यहाँ पर इस्लामिक संस्कृति की झलक दिखाई देती है।

समाज में आदमी की पहचान उसके आचार-विचार के साथ-साथ उसके रहन-सहन से भी होती है। गुलशेर खाँ शानी की 'मरे हुए चहरे' कहानी में लेखक ने मुस्लिम समाज की महिलाओं के रहन-सहन का चित्रण किया है। जैसे कि—''साजिदा ढीले-ढाले गरारे-कुरते और हल्दी-मिर्च लगी ओढ़नी से सिर ढँकती हुई जुम्मन की डबडबाई आँख के आगे खड़ी हो जाती है।''[12] इस प्रकार कथाकार ने मुस्लिम समाज की महिलाओं की इस्लामी संस्कृति को रेखांकित किया है।

मुस्लिम समाज की संस्कृति खानपान का अपना तरीका है। मुस्लिम समाज की संस्कृति के अनुसार दस्तरखान बिछाकर ही खाना-खाया जाता है। क्योंकि इस्लाम में

खाना खाते वक्त दस्तरखान अनिवार्य है। साथ ही सभी परिवार के लोग एक साथ मिलकर खाना खाना भी फर्ज है। इसी प्रकार ईद के त्योहार के खान-पान की तैयारी पहले से की जाती है। गुलशेर खाँ शानी की 'नंगे' कहानी में लेखक का कहना है कि—''रुबीना ने जल्दी-जल्दी रोज का काम निपटाया, बच्चों को खिला-पिलाकर जबरन सुला दिया और दूसरी सुबह की सारी तैयारियाँ कर डाली, मसलन सिर-खोरमा और सेवईं के लिए मसाला पीसकर तैयार करना,...''[13] इस प्रकार मुस्लिम महिलाएँ ईद के दिन की पूर्व तैयारी करती हैं।

इस्लाम हो या अन्य धर्म में खैरात और दान-धर्म को महत्त्व दिया गया है। प्रत्येक व्यक्ति अपने-आप में धर्म के प्रति श्रद्धा महसूस करता है। धार्मिक कार्यों में अपनी पूँजी लगाकर गर्व महसूस करता है। मुस्लिम समाज में भी 'सदका', 'जकात', 'खैरात' आदि हैं। मुसलमान व्यक्ति अपने परिसर की मस्जिद, मदरसा, कब्रिस्तान की जरूरतें चन्दा या दान के माध्यम से पूरी करते हैं। 'मरे हुए चहरे' कहानी में शानी जुम्मन के माध्यम से कहते हैं कि—''आप लोग चन्दे की रकम थोड़ी और बढ़ाकर यहाँ अहाते में कुआँ क्यों नहीं खुदवा देते?''[14] इस प्रकार मुस्लिम समाज की संस्कृति में दान-धर्म का भी महत्त्व है।

भारतीय समाज में विविध धर्म, जाति के लोग एक साथ मिलकर रहते हैं। यह हमारे समाज की बड़ी विशेषता है, क्योंकि जिस प्रकार भारत में साम्प्रदायिक दंगे कराए जाते हैं, तो दूसरी तरफ सामान्य लोग सद्भावना के साथ रहते हैं। वे लोग साम्प्रदायिकता के द्वेष को भुलाकर साम्प्रदायिक एकता को महत्त्व देते हैं। भारतीय समाज में अपने-अपने धर्म की अपनी-अपनी परम्पराएँ हैं और अपने-अपने धार्मिक त्योहार हैं। लेकिन भारतीय समाज में धार्मिक एकता को कायम रखने के लिए लोग प्रत्येक धर्म के त्यौहार, सब लोग एक साथ मिलकर मनाते हैं। यही हमारे समाज की धार्मिक एकता है। लेकिन वर्तमान समय की धार्मिक स्थिति में काफी परिवर्तन आ चुका है।

इस धार्थिक एकता के सन्देश को हिन्दी-मुस्लिम कथाकारों ने अपनी कहानियों में रेखांकित करके अभिव्यक्त किया है। तारिक असलम 'तस्नीम' की 'बूढ़ा बरगद' कहानी में धार्मिक एकता और समाज के बदलते परिवेश का सन्देश हिन्दी कहानियों में अभिव्यक्त किया है। जैसे इस कहानी में कथानायक कहता है कि—''कहने के लिए गाँव में समस्त जातियों और धर्मों के मानने वालों के बीच मेल-मिलाप काफी बढ़िया था। लोग होली में साथ मिल-जुलकर दहन करते, साथ-साथ फाग गाते और होली के दिन गँवई अन्दाज में मदमस्त करने लायक छेड़खानी से भरपूर गीतों के बोल पवन पुरवईया के साथ बिखेरते द्वारे-द्वारे जाते। सबको गुलाल लगाते, गरी और छुहारा खिलाते और शराफत के साथ आगे बढ़ जाते।''[15] इस प्रकार धार्मिक एकता को लेखक ने अभिव्यक्त किया है।

जिस प्रकार मुस्लिम समाज हिन्दू त्योहारों को मनाते हैं, उसी प्रकार हिन्दू समाज भी मुस्लिम त्योहारों को मुस्लिम भाइयों के साथ मिल-जुलकर मनाते हैं। जैसे कि—''मुहर्रम के दिन आते तो इसी बूढ़े बरगद की छाँव में बने चबूतरे पर ताजिया बनाने का काम शुरू होता। सभी जातियों और धर्मों के मानने वाले कुछ-न-कुछ आवश्यक सामग्री जुटाते और यथासम्भव शारीरिक श्रम करते, ताकि इस साल ताजिया पिछले साल की अपेक्षा और बढ़िया बने। ताजिया पर आने वाला व्यय सब मिल-जुलकर बाँट लेते। ताजिया बरगद के चबूतरे से उठाकर गाँव की गलियों में घुमाया जाता तो यह देखकर मैं आश्चर्यचकित रह जाता कि घूँघट की ओट में रहने के बाद भी बूढ़ी दादियाँ, चाचियाँ न केवल पूजा के लिए ड्योढ़ी पर लोटे में पवित्र जल लेकर प्रतीक्षारत होतीं, वरन् जवान नवब्याहताएँ माथा टेकतीं और चावल के साथ रुपए-पैसे लुटातीं। श्रद्धा और सम्मान का यह भाव शहर के किसी मोहल्ले में मुझे तो कभी देखने को नहीं मिलता। आज भी हालत ऐसे हैं कि दशहरे में और मुहर्रम में विधि-व्यवस्था को चुस्त-दुरुस्त नहीं रखा जाए तो न जाने कब? कहाँ? और किस प्रकार मारकाट मच जाए। यह समझना काफी कठिन सिद्ध होगा सबके लिए। मगर उस गाँव में ऐसी कोई घटना पिछले पचपन सालों में कभी घटित नहीं हुई थी और सन् उन्नीस सौ सैंतालीस में आजादी के समय जिस कदर हिन्दू और मुसलमानों के बीच मारकाट और लूटपाट मची थी। वैसा उस दौर में भी गाँव में कोई शर्मनाक हादसा नहीं हुआ था।''[16]

इस प्रकार लेखक ने धार्मिक एकता के साथ-साथ वर्तमान समय के धार्मिक विघटन की ओर भी दृष्टि डाली है। क्योंकि वर्तमान समाज में बढ़ती साम्प्रदायिकता की भावना समाज को तोड़ने का कार्य कर रही है। शहरी जीवन में वर्तमान समय में साम्प्रदायिकता का प्रमाण अधिक दिखाई दे रहा है, लेकिन आज भी ग्रामीण जीवन को देखकर वर्तमान समय में भी धार्मिक एकता और मनुष्यता की मिसाल दी जा सकती है। यह सत्य है कि वे लोग किसी के यहाँ शादी-ब्याह हो या धार्मिक त्योहार हो—सब लोग मिल-जुलकर ही मनाते हैं। लेकिन धीरे-धीरे हमारा समाज साम्प्रदायिकता की ओर बढ़ रहा है। इसे भी नजरअन्दाज नहीं कर सकते हैं।

अनवर सुहैल की 'कुंजड़-कसाई' कहानी में इस्लाम की वास्तविकता को अभिव्यक्त किया गया है। क्योंकि इस्लाम धर्म एक ऐसा धर्म है, जो ऊँच-नीच, जात-पाँत तथा भेदभाव का बहिष्कार करता है और समानता की हिदायत देता है। जैसे इस कहानी में मुहम्मद लतीफ कुरैशी के बारे में कथन है कि—''वे तो इतना जानते थे कि 'एक ही सफ में खड़े महमुदो-अयाज' वाला दुनिया का एकमात्र मजहब इस्लाम। एक नई सामाजिक व्यवस्था है इस्लाम। जहाँ ऊँच-नीच, गोरा-काला, स्त्री-पुरुष, जात-पाँत का कोई झमेला नहीं है। कहाँ महमूद जैसा बादशाहे-वतन और कहाँ अयाज जैसा मामूली सिपाही, किन्तु नमाज के समय एक ही सफ में खड़ा किया

तो सिर्फ इस्लाम ही ने दोनों को।''[17] इस प्रकार इस्लाम में सामाजिक एकता को महत्त्व दिया गया है ताकि समाज में फैली सामाजिक ऊँच-नीच की परम्परा समाप्त हो सके। लेकिन इस्लाम के ठेकेदारों ने सत्ता की लालच में इस्लाम धर्म में भी ऊँच-नीच, जात-पाँत की दरार पैदा कर दी है। यह इस्लाम धर्म का कटु सत्य है।

भारतीय समाज-व्यवस्था बहुधर्मीय है। यहाँ पर अनेक धर्म हैं और उन सबकी अपनी मान्यताएँ और परम्पराएँ हैं, जिसको बरसों से अपनाते चले जा रहे हैं। धार्मिक उत्सव पर भोज का आयोजन किया जाता है, जिसमें प्रत्येक धर्म का व्यक्ति शामिल होता है। सच्चे धर्म के अनुयायी सामाजिक भेदभाव नहीं करते हैं। सभी धर्म के व्यक्ति का आदर और सम्मान करते हैं और धार्मिक एकता को बनाए रखते हैं। नासिरा शर्मा की 'असली बात' कहानी में धार्मिक एकता और सामाजिक सद्भावना का सन्देश दिया गया है। इस कहानी में टीले के मन्दिर में महन्त सूफी बाबा की मजार पर आकर नवरात्र के लिए अगरबत्तियाँ ले जाते हैं और कुरआन की तिलादत करने लिए रुपए मुजाविर को देते हैं। यह देखकर कुछ नौजवान इस पर सवाल करते हैं तब वे कहते हैं कि—''हाँ...हाँ, यहाँ टीलेवाले मन्दिर के महन्त आए थे। मजार से छुली अगरबत्तियों का पैकेट ले गए हैं और नवरात्र के नौ दिन तक मजार पर कुरानख्वानी करवाने के लिए ये पैसे भी दे गए...फिर? यह उनका एकदात है। बचपन से वह आते रहे हैं। यह रिश्ता तब से बना है, जब तुम लोग पैदा भी नहीं हुए थे। उनकी ख्वाइश रहती है कि सुफी बाबा की मजार की तरह उनके मन्दिर से कोई गरीब निराश न लौटे तो इसमें तुम्हारी दखलन्दाजी का क्या मतलब है? पीर-औलिया इनसानों में फर्क नहीं करते। यह दर सबके लिए खुला है—अमीर-गरीब, हिन्दू-मुसलमान, छोटा-बड़ा। खबरदार, जो फिर कभी अपनी जाहिलाना राय मुझे देने यहाँ आए!''[18] इस प्रकार इसमें धार्मिक एकता का सन्देश दिया गया है। क्योंकि मन्दिर-मजार पर कोई भी श्रद्धालु आकर अपनी इच्छा जाहिर कर सकता है, लेकिन वर्तमान समय में धार्मिक स्थलों को एक ही धर्म से जोड़कर देखने वाले लोग भी हैं। जो सच्चे महन्त और मुजाविर होते हैं वे धर्म को बाँटते नहीं, बल्कि सभी धर्म का आदर करते हैं। इसी यथार्थ को लेखिका ने स्पष्ट किया है।

'असली बात' कहानी में लेखिका ने महाभोज का चित्रण किया है। कई गरीब भूखे लोगों का सहारा महाभोज होता है। इस कहानी में एक तरफ मजार का चित्रण है तो दूसरी ओर मन्दिर के नवरात्र उत्सव का चित्रण है। दोनों हो जगह भंडारे का चित्रण किया गया है। जैसे प्रस्तुत कहानी में लेखिका कहती है कि—''कुछ देर बाद बड़ी पतीली और रोटी उठाए कुछ औरत-मर्द दाखिल हुए, जिनको देख दीवार से लगे मर्द-औरत अपना कटोरा ले आगे बढ़ने लगे। उनकी मुराद पूरी हुई थी।''[19] इस प्रकार जिसकी मन्नत पूरी होती है वह व्यक्ति मजार पर जाकर भोज का प्रबन्ध करता है। इसी प्रकार प्रस्तुत कहानी में तम्बोलन से संन्यासी कहते हैं कि ''माँ, भंडारे की रोटी तो चखती जाओ...आओ, इधर आओ...यह तो तुम्हारा अधिकार है।''

तम्बोलन ने घबराकर पीछे देखा। आग्रह में इतना प्यार था कि वह उधर बढ़ गई। पत्तल पर एक साथ कई व्यंजन देखे, उसे अजीब लगा। पेट भरकर जब वह उठी तो उसे अपने स्तन भारी लगे। हाथ धो वह कुछ दूर पेड़ के नीचे बैठे बेटे को दूध पिलाने लगी। एक असीम सुख में डूबते हुए उसने सोचा 'रोटी में किऊतानी ताकत है! जब चाहती है, बाँट देती है और जब चाहती है, एक कर देती है।''[20] इस प्रकार भूखे बेसहारों का ठिकाना धार्मिक स्थल होता है। उनके लिए भूख से लड़ने के लिए खाना अहम् है, और रोटी का कोई धर्म नहीं, वह सबको एक समान समझती है। फर्क तो देखने और समझने वाले लोगों में है, जो समाज की वास्तविकता है।

इस प्रकार देखा जा सकता है कि—हिन्दी के मुस्लिम कहानीकारों ने अपनी कहानियों के माध्यम से मुस्लिम समाज की संस्कृति में एकता का चित्रण किया है। मुस्लिम समाज के रहन-सहन, खान-पान, पहनावा, तीज-त्योहार, त्योहारों पर होने वाले कार्यक्रम, शादी-विवाह, दान, खैरात आदि का भी चित्रण कर, सांस्कृतिक भिन्नता को दर्शाता है।

सन्दर्भ सूची

1 चर्चित कहानियाँ : शानी, पृ.सं.—153।
2 चर्चित कहानियाँ : शानी, पृ.सं.—52।
3 रफ रफ मेल : अब्दुल बिस्मिल्लाह, पृ.सं.—11-12।
4 कहानी संग्रह-3 : नासिरा शर्मा, पृ.सं.—306।
5 कहानी संग्रह-3 : नासिरा शर्मा, पृ.सं.—191-192।
6 कहानी संग्रह-3 : नासिरा शर्मा, पृ.सं.—192-193।
7 कहानी संग्रह-3 : नासिरा शर्मा, पृ.सं.—198।
8 चर्चित कहानियाँ : शानी, पृ.सं.—111।
9 शादी का जोकर : अब्दुल बिस्मिल्लाह, पृ.सं.—13।
10 रफ रफ मेल : अब्दुल बिस्मिल्लाह, पृ.सं.—27-28।
11 चर्चित कहानियाँ : शानी, पृ.सं.—57।
12 चर्चित कहानियाँ : शानी, पृ.सं.—114।
13 चर्चित कहानियाँ : शानी, पृ.सं.—52।
14 चर्चित कहानियाँ : शानी, पृ.सं.—110।
15 हिन्दी के मुस्लिम कथाकार : डॉ. एम. फिरोज खान, पृ.सं. 44।
16 हिन्दी के मुस्लिम कथाकार : डॉ. एम. फरोज खान, पृ.सं. 44।
17 गहरी जड़ें : अनवर सुहैल, पृ.सं.—126-127।
18 कहानी संग्रह-3 : नासिरा शर्मा, पृ.सं.—178।
19 कहानी संग्रह-3 : नासिरा शर्मा, पृ.सं.—179।
20 कहानी संग्रह-3 : नासिरा शर्मा, पृ.सं.—179।

पुराकालीन पश्चिमी एशिया क्षेत्र के भारतीय वैदिक नृप एवं इसी क्षेत्र में श्री राम को देवत्व-प्राप्ति

राजीव रंजन उपाध्याय*

पुराकाल में हरियाणा स्थित कुरुक्षेत्र को ब्रह्मावर्त भी कहा गया है और यह क्षेत्र परम पवित्र माना गया है। परन्तु ऋग्वेद में ब्रह्मावर्त और कुरुक्षेत्र की चर्चा नहीं है। ऋग्वेद में यह क्षेत्र 'वार आ पृथिव्याः' (पृथ्वी का श्रेष्ठ स्थल) और 'नाभा पृथिव्याः' (पृथ्वी की नाभि) नामों से सम्बोधित है तथा अन्य दो स्थलों पर इलायास्पद और मानुष का भी उल्लेख है—

नि त्वा दधे वर आ पृथिव्या इलायास्पदे सुदिनत्वे अह्नम।
दृषद्वत्यां मानुष आपयायां सरस्वत्या रैवदग्ने दिदीहि।। ऋ. 3, 22, 4

इस मन्त्र में ऋषि देववात इलास्पद जो पृथ्वी का श्रेष्ठ स्थल है, पर पवित्र अग्नि को पवित्र दिवस पर स्थापित करते हैं और कहते हैं कि ''हे अग्नि! आप सरिता दृष्टावती, मानुसा जो अपाया पर स्थित हैं और सरस्वती पर प्रज्वलित रहें।''

महाभारत के वन पर्व में वर्णित तीर्थ यात्रा पर्व के अन्तर्गत मानुष तीर्थ का निम्न श्लोक में वर्णन है—

ततो गच्छेत राजेन्द्र मानुषं लोक विश्रुतम।
यत्र कृष्ण मृगा राजन् व्याधेन शरपीडितः।।

तद्उपरान्त महाभारतकार कहते हैं[1]—

मानुषस्य तु पूर्वेण क्रोशमात्रे महीपते।
आपगा नाम विख्याता नदी सिद्धनिषेथिता।।

*प्रो. डॉ. राजीव रंजन उपाध्याय, 'विज्ञान' परिसर कोठी, काके बाबू, देवकाली मार्ग, फैजाबाद-224001 (उ.प्र.) मो. 9838382420, E-mail : rajeevranjan.fzd@gmail.com

इलास्पद तीर्थ की चर्चा इन शब्दों में की गई है[1]—

रुद्रकोटचां तथा कूपे, ह्रदेषु च महीपते।
इलास्पदं च तत्रैव तीर्थ भरतसत्तम।।

कुरुक्षेत्र की सीमा पार में स्थित अनेक तीर्थों की महत्ता का वर्णन करते हुए कहा गया है ''जो सरस्वती के दक्षिण और दृषद्वती के उत्तर कुरुक्षेत्र में वास करते हैं, वे मानो स्वर्गलोक में ही रहते हैं।[1]

दक्षिणेन सरस्वत्या दृषद्वत्युत्तरेण च।
ये वसन्ति कुरुक्षेत्रे ते वसन्ति त्रिविष्टपे।।

महाभारत वर्णित यह तीर्थ अपने किंचित परिवर्तित नाम-रूप में अभी भी विद्यमान है। इस पर प्रकाश डालते हुए श्री मनोहर लाल भार्गव ने अपनी पुस्तक में लिखा है[2]— तीर्थ मानुष अब मानस नाम से जाना जाता है। यह तीर्थ कैथल के उत्तर-पश्चिम में साढ़े तीन मील की दूरी पर स्थित है और सरका स्थित इलास्पद अथवा इलायास्पद कैथल से दक्षिण-पश्चिम की ओर 3 मील की दूरी पर हैं। सरका को अब शेरगढ़ कहा जाता है।

सरिता सरस्वती और दृषद्वती के क्षेत्र में मानुष और इलास्पद नामक तीर्थ अपाया नदी के दक्षिण और वाम तटों पर साढ़े पाँच मील की दूरी पर स्थित हैं।

देवी इला जो इलास्पद नामक स्थल में पूजित रही हैं, ही वह देवी है जिनकी स्तुति आप्रि-सूक्तों में ऋग्वेद के द्रष्टा दस ऋषि परिवारों द्वारा सरस्वती के साथ की गई है।

आप्री-सूक्तों में स्मृत तीसरी पूज्य भारती देवी, जो सूक्तकारों द्वारा मही भी कही गई है, के नाम से कोपर अथवा कोइर नामक तीर्थ कुरुक्षेत्र के मध्य में स्थित है। यह स्थल थानेश्वर से 12 मील दक्षिण-पश्चिम और कैथल से 22 मील पूर्व में स्थित है।[2]

इस प्रकार ऋग्वैदिक इन तीनों महादेवियों के नामों से सम्बन्धित स्थल कुरुक्षेत्र में ही स्थित थे जिसकी चर्चा, ऋ.2, 3, 7 'अधि सानुषु त्रिष' तथा 'नाभा पृथिव्या' के द्वारा व्यक्त की गई है। कुरुक्षेत्र का यह स्थल ही नाभा पृथिव्या है। यहाँ यह इंगित करना समीचीन होगा कि इन तीनों देवियों 'सरस्वती, इला एवं भारती' का स्मरण इस मन्त्र में, आप्री-सूक्तों को छोड़कर, मात्र एक बार ऋग्वेद में किया गया है।[3]

इस प्रकार ऋग्वैदिक पुरु-भरत जनों की क्रीड़ास्थली हरियाणा और उसके समीपवर्ती क्षेत्र थे तथा महाभारतकार ने यक्ष तरन्तु, अरन्तुक तथा रामह्रद क्षेत्र के मध्य भाग को कुरुक्षेत्र एवं समन्तपंचक क्षेत्र कहा है जो ब्रह्मा की उत्तरवेदि है।[1]

ऋग्वेद और पुराणों के अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अनु-द्रुह्यु जन भारतीय उद्भव के हैं तथा इनके कालान्तर में विसंक्रमण ने मध्य एशिया के और यूरोपीयजनों को जन्म दिया।

भारत क्षेत्र से सर्वप्रथम दुह्युजनों का विसंक्रमण हुआ था। इसकी चर्चा वायु पुराण (99,11-12) ब्रह्मांड पुराण (3,94, 11-12), मत्स्य पुराण (48,9), विष्णु पुराण (4,17,5) तथा भागवत में इन शब्दों में यह चर्चा निम्नवत है[4]–

घृतस्य दुर्मनास्मात् प्रचेता प्राचेतसं शतम्।
मलेच्छाधिपतयोऽभवन्नदीचीं दिशमाश्रिताः।।

–श्रीमद्भागवत् 9, 23, 15-16

इसी सन्दर्भ को विस्तार देते हुए पार्जीटर (Pargiter) ने लिखा है "Indian tradition knows nothing of Aila or Aryan invesion of India, from Afganistan, nor of any gradual advance from thence east words."[5] On the contrary, "Indian tradition distinctly asserts that there was an Aila out flow of Druhyus through the North-west into the countries beyond where they found various Kingdoms."[5]

इसी सन्दर्भ में भार्गव ने लिखा है कि पुराणों में वर्णित है कि प्रचेतस के वंशज उत्तर दिशा में भारत से बाहर गए और उन्होंने अपने राज्य मलेच्छ क्षेत्रों में स्थापित किए।[6]

यह महत्त्वपूर्ण घटना पुराकाल में घटित हुई थी जो भारतीय सन्दर्भों में सुरक्षित रही।

द्रुह्युजन प्रारम्भ में सप्त सिन्धु क्षेत्र–आधुनिक पंजाब–में निवास करते थे। उन्होंने क्रमशः अपने विस्तार का क्षेत्र पूर्व और दक्षिण दिशा में बढ़ाना प्रारम्भ किया। उनके इस विस्तारवाद के कारण ही उनका संघर्ष अनु, पुरु, यदु, तुर्वसु जनों तथा इक्ष्वाकों से प्रारम्भ हो गया।

इस प्रकार द्रुह्युजनों के विरुद्ध में उक्त वैदिकजन संघर्षरत हो गए। इसके सन्दर्भ में पुसलकर ने लिखा है–

"As a result of the succesful compaigns of Sasabindu, Yuvanasava, Mandhatri and Sibi the Drughus were pushed back from Rajputana and were cornered into north-western portion of Punjab. Mandhatri Killed their King ANGARA and the Drughu settlement in Punjab came to be known as GANDHARA after the name of one of the Anagara's successors. After a time, being over populated the Durghu crossed the borders of India and found many principalities in mleccha territories in north and probably carried the Aryan culture beyound the frontiers of India."[7]

द्रुह्युजनों के इस ऐतिहासिक विसंक्रमण ने अफगानिस्तान से लेकर मध्य एशिया और इसी क्षेत्र में दूर तक उन्हें विस्तार करने का अवसर प्रदान किया।

वैदिकजनों का दूसरा भारतीय क्षेत्र से वाह्यगमन दशराज्ञ युद्ध, जो ऋग्वेद के प्रारम्भिक काल में घटित हुआ था, के परिणामस्वरूप हुआ। इसके फलस्वरूप अनुजन और अवशेष द्रुह्युजन भारत से बहिर्गमन करने को बाध्य हुए।

इस चर्चित युद्ध में सुदास के विरुद्ध अनु और द्रुह्यु शाखा के जिन समर्थक जनों ने भाग लिया था, उनमें से निम्न 6 अनु उद्भव के ईरानी जन थे–

1. पृथु-पार्थव-पार्थियन जन–ऋ. 7, 83, 1
2. पर्शव-परशियन जन–ऋ. 7, 83, 7
3. पक्थ-पक्खतून–ऋ. 7, 18, 7
4. भलानस-बलूच–ऋ. 7, 18, 7
5. विषाणिन-पिशाच-दरद–ऋ. 7, 18, 7

अनुजनों की एक शाखा जो मद्रों-मद्रिजनों की थी, का वर्णन ऋग्वेद में यद्यपि नहीं है, परन्तु कालान्तर में ईरान के अन्य क्षेत्रों, अफगानिस्तान और मध्य एशिया के इतिहास में इनका विवरण उपलब्ध है।

ईरानी अनु शाखा की जनजातियों में–(1) शिम्यूस-सारमातियन-आवेस्ता-सैरीमास–(ऋग्वेद 7, 18, 5)–सिरीमिनॉस-प्राचीन एलबानियन जन तथा (2) एलिनास-ऋग्वेद-अलान, 7, 18, 7–हेलेनेस ग्रीकजन थे[8] जिनका विस्तार ईरान के पश्चिमोत्तर क्षेत्रों में था।

यह जन कालान्तर में ग्रीस से लेकर अधिकांश भूमध्य सागरीय क्षेत्रों तथा आधुनिक इटली के क्षेत्रों में व्याप्त हो गए थे। भारतीय सभ्यता के चिह्न आज भी इनके पुरा अवशेषों में सुरक्षित एवं संग्रहित हैं।[9]

इन जनों के अतिरिक्त भारतीय उद्भव के भृगुजन जो कालान्तर में फ्रीजियन-जन के नाम से विख्यात थे, का विस्तार-तुरुषक क्षेत्र अनातोलिया से लेकर अर्ब-क्षेत्र गाजा, पलेस्लाइन तथा सुदूर क्षेत्र[10] मिस्र तक व्याप्त हो गया था।

अनु एवं द्रुह्युजनों की ही शाखा के थ्राको-फ्रीजियन जन थे जो आधुनिक आरमेनिया क्षेत्र में व्याप्त थे। इसी शाखा के (1) हित्तियों, (2) तोखारियन, (3) इटैलिक, (4) केल्टिक, (5) जरमानिक, (6) बाल्टिक, (7) स्लोबानिक आदि जनों के पूर्वज रहे होंगे। यह मुख्यतः द्रुह्यु उद्भव के हैं।[11]

अपने प्रारम्भिक प्रसर्पण-विसंक्रमण की अवस्था में अफगानिस्तान-मध्य-एशिया-रूसी क्षेत्रों में जिस स्थलों पर इन जनों ने सात नदियों को देखा था, उस स्थल को एक बार पुनः भारतीय सप्तसिन्धु के स्मरण हेतु इन क्षेत्रों को भी इसी नाम से सम्बोधित किया। फलस्वरूप अफगानिस्तान और रूसी क्षेत्र में भी सप्त-सिन्धु Semi-Rechiye वर्णित है।[12] आज विदेशों में प्रवास कर रहे भारतीयों में अपने आराध्य के मन्दिरों का निर्माण एवं स्थानों का नामकरण इसी परम्परा का परिवर्तित रूप है।

इसी प्रकार रूस के आल्टाई क्षेत्र में स्थित आरकाइम नामक स्थल पर विद्यमान वैदिकज्योतिष के चिह्न, इसी अवधारणा की पुष्टि करते हैं।[13]

दशराज्ञ युद्ध के उपरान्त अनु और अवशेष द्रुह्युजन जो सप्त-सिन्धु के भारतीय क्षेत्र से बढ़कर अफगानिस्तान और सुदूर अन्य क्षेत्रों में बढ़ गए थे, परन्तु इसके उपरान्त कुछ अनुशाखा के जन जो भारतीय सप्त-सिन्धु पंजाब क्षेत्र में रह गए थे, उनके सम्बन्ध पुरुजनों से हो जाने के फलस्वरूप वे भारत के पश्चिमोत्तर क्षेत्रों में रहने लगे और वे ही मद्र तथा कैकेय जनों के नाम से विख्यात हो गए।

इस प्रकार भारत से विसंक्रमित वैदिक जन आधुनिक अफगानिस्तान के क्षेत्र, ईरान, मध्य एशिया में गए और यूरोप[12] तथा पश्चिमी एशिया में गए और कालान्तर में वे विभिन्न क्षेत्रों के शासक बन गए।[14]

अफ्रीका एक महादेश है, जिससे पुराकाल से ही भारतीय जन परिचित थे। लीबिया का क्षेत्र भी उनसे अपरिचित नहीं रहा होगा।[10] ऐसी मान्यता है कि दुष्यन्त पुत्र भरत ने रोडेशिया जो आजकल जिम्बाम्बे के नाम से विख्यात है के मष्णार नामक क्षेत्र से सुवर्ण प्राप्त किया था। इसी तथ्य की चर्चा करते हुए श्री काशीनाथ तैलंग लेले ने 'गुजराती' नामक पत्रिका के अक्टूबर 1923 के अंक में लिखा था, कि ऐतरेव ब्राह्मण के मन्त्र 39-4-23, जिसका भाष्य सायणाचार्य ने निम्नवत किया है ''दुष्यन्त पुत्र राजा भरत ने मष्णार नामक देश (क्षेत्र) सुवर्ण अलंकारों से युक्त एक सौ वृन्द दान में दिए। इस महान हस्ती दान से राजा भरत को 'महाकर्म' की उपाधि मिली। जिस वर्णन में यह मन्त्र आता है, वहाँ पंचम मन्त्र है–

महाकर्म भरतस्य न पूर्वं न परे जनाः दिवम्मर्त्थ इव हस्तभ्याम नोदापु पञ्च मानवः...।

अर्थात् ऐसा कर्म न राजा भरत के पूर्वजों ने और न उनके उपरान्त किसी अन्य ने किया।[11]

राजा भरत ने शुद्ध जाम्बूनद-सुवर्ण के बने सहस्र कमल कण्व ऋषि को दिए तथा ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार यह अश्वमेघ यज्ञ कराने वाला ऋषि दीर्घतया मामतेय था।[15] यह यज्ञ मष्णार देश में हुआ।[16]

इस मष्णार क्षेत्र को 'ए मैनुएल ऑफ जियोग्राफी' में इस प्रकार वर्णित किया गया है–''दक्षिण अफ्रीका में जिम्बब्वे में मष्णा नामक स्थान है जो अब 'यशोनालैंड' कहा जाता है। यहाँ पर पूर्वकाल में तथा आज भी सुवर्ण प्रचुर मात्रा में मिलता है। इस क्षेत्र के भग्नावशेष प्राचीन सभ्यता का संकेत देते हैं। यह क्षेत्र हाथियों के लिए भी चर्चित है।''

ऐसी मान्यता है कि 'व्रात्यक्षत्रीय' जन झल्ल होकर अफ्रीका के रोडेशिया क्षेत्र में गए थे, जिन्होंने युद्धप्रिय जूलू जनजाति को जन्म दिया।[16] इस क्षेत्र के वासियों के सम्बन्ध में भविष्यपुराण में वर्णित है–

रथाकान्ते नराः कृष्णा प्रायशोविकृतन्नाः।
आमांसभुजा सर्वे शूराः कुंचित मूर्द्धजाः।।

अर्थात् यहाँ के मनुष्य (जूलू-जन) काले, विकृत मुखवाले, कच्चा मांस भोजी तथा घुँघराले केशवाले होते हैं।[10]

पश्चिमी मध्य एशिया में मिस्र, पैलेस्ताइन, इजराइल, सीरिया, अक्काड-मेसोपोटामिया, तुर्की, साइप्रस और ईरान का कुछ क्षेत्र सम्मिलित किया जा सकता है। इन क्षेत्रों में विसंक्रमित वैदिकजनों ने सभ्यता का विकास किया। इसका संकेत प्राचीन भारतीय संस्कृत वाङ्मय में विद्यमान है।[5] वर्णित है कि द्रुह्यु के पुत्र द्रत्रभु ने बावरी नामक नगर बसाया था।[17] (विष्णुपुराण,4/17/1) जो कालान्तर में बाबल अथवा बैबीलोन के नाम से विख्यात हुआ। स्पष्ट है पुराकालीन वैदिक जन मेसोपोटामिया क्षेत्र से पूर्ण परिचित थे।

स्थान परिवर्तन के प्रभाव के कारण भाषा (संस्कृत) में भी परिवर्तन हुआ। हम असुर एवं दनु पुत्र दानवों की चर्चा से परिचित हैं।[17] असुरों की भाषा अशुद्ध हो गई थी, इसका स्पष्ट संकेत 'अनोस्तु मलेच्छ जातयः—ययाति पुत्र अनु से अनेक मलेच्छ-जातियों की उत्पत्ति हुई। मलेच्छ शब्द का अर्थ-अपभ्रंश शब्द बोलने वाला होता है। इसी कारण शतपथ ब्राह्मण (3/2/1) में कहा गया है—

तेऽसुरा हेलयो हेलय हति कुर्वन्तः।।[17]

इसी प्रकार उस समस्त क्षेत्र की लिपि भी प्रभावित हुई जो चित्रात्मक (Heiglyphic) और कीलाक्षरी (Cunniform) थी। यहाँ पर यह इंगित करना आवश्यक है कि चित्रात्मक लिपि जो हित्ती, अक्काड तथा सीरिया वासी जन प्रयोग करते थे, वह मिस्र की चित्र-लिपि से भिन्न और अप्रभावित थी।[18] चित्र-लिपि सामान्य जनों की और कीलाक्षरी राजपुरुषों अथवा प्रमुख भावों अभिव्यक्तियों को व्यक्त करने की भाषा थी, जिसका अनुकरण प्राचीन जरथोस्त्र, अनुयायी ईरानी सम्राटों के अभिलेखों में देखा जा सकता है।[19]

पश्चिमी मध्य एशिया में सामान्यतः ईरान के जागरोस गिरि क्षेत्र कैस्पियन सागरीय तथा काकेशश के भाग, तुर्की, सीरिया, लेबनान, इजरायल, साइप्रस, अक्काड सामराज्य-मेसोपोटामिया, बैबीलोन के क्षेत्र तथा मिस्र के भूभाग, इस शोध-पत्र के अंश हैं। इन क्षेत्रों का उल्लेख महाभारत[20] और पुराण में[16] तथा अक्काड नरेश नार-सिर (नरमार) का उल्लेख ऋग्वेद में है।[21]

इन वर्णनों के उपरान्त भी भारतीय इतिहास के विद्वानों का ध्यान पश्चिमी मध्य एशिया में पुराकाल से शासन कर रहे वैदिक नरेशों और उनके इस समस्त क्षेत्र की सभ्यता के विकास के अवदान पर नहीं गया। इसकी पृष्ठभूमि में, अमराना, नूजी, अलाख, हमाथ, रास, ईरान तथा सीरिया के विभिन्न क्षेत्रों से उत्खनित कीलाक्षरी लिपि

में अंकित सीलों की भाषाजन्य दुरूहता तथा अनुपलब्धता प्रमुख है। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की सीलें जो मेसोपोटामिया, सीरिया तथा इजरायल, पैलेस्ताइन क्षेत्रों से प्राप्त हुई हैं, इस समस्त क्षेत्र से भारतीय वैदिकजनों के सम्पर्क की सूचना देती हैं।[22] इसी कारण से उत्खनित साक्ष्यों के आधार पर अक्काड-सारगौन आदि के समय से इस क्षेत्र का सम्बन्ध भारत से माना गया है, परन्तु यह और प्राचीन हो सकता है।[14]

वैडेल[23] जो संस्कृत और कीलाक्षरी लिपि में प्रयोग की गई भाषा का ज्ञाता था, ने सर्वप्रथम सुमेरियन-अक्काड, बैबीलोनिया और मिस्र के प्रारम्भिक शासकों की जो सूची अपनी पुस्तक में दी है, वह वेदों, पुराणों में वर्णित नृपों के नाम तथा उनकी वंशावलियों की समानता को प्रदर्शित ही नहीं करती वरन्, स्पष्ट रूप से इन वैदिक जनों की पश्चिमी मध्य एशिया में शासन का साक्ष्य देती है। बोगोजकोय से प्राप्त हित्ती टेबलेटों-सीलों पर वैदिक देव इन्द्र, मरुत आदि का नाम अंकित है तथा मित्तिनी (मत्राणि) जनों की कीलाक्षरी लिपि में वैदिक देवों तथा अश्व-शिक्षक किक्कुली की सीलों को छोड़कर, भारतीय इतिहास वेत्ताओं का ध्यान, मिस्री, अक्काड, काश्य (कैसाइत), हूरियन (कुरुजन) और हित्ती भाषाओं में अंकित सीलों पर नहीं गया। इस दिशा में आज जो भी सूचना उपलब्ध है, वैडेल, गित्जे, सेस और अन्य विद्वान जो संस्कृत और कीलाक्षरी लिपि की भाषाओं के ज्ञाता थे, के प्रयासों का परिणाम है।

सुमेरिया से पकी मिट्टी की सीलों के खोज का श्रेय प्रो. शील को जाता है (Prof. Scheel), जिन्होंने अक्काड-सुमेरजनों की प्राचीन राजधानी 'किश' जो अब अरबी भाषा में अल-मोहमीर कही जाती है, से एक अज्ञात व्यक्ति के पास सुरक्षित, इन सीलों को प्राप्त किया था। यह स्थल सरिता फरात (इयूफेरेतस-प्राचीन भारतीय वैदिक नाम वरुणा) के समीप तथा बैबीलोन से बारह किलोमीटर से कुछ अधिक दूरी पर स्थित है।

इन सीलों पर भारतीय वाङ्मय में विख्यात, नृप भरत के पिता दुष्यन्त को, दुई, दुईमंशु आदि नामों से तथा भरत जिनके नाम पर भारतवर्ष का नाम है, को बराती, बारदी, बारदू कहा गया है। यही भरत पुराकालीन ग्रीस में बरतान भरतानि आदि शब्दों के द्वारा स्मृत हैं।[8(2)]

यही भाषाजन्य दोष कुरु मित्तिनी (मित्राणि) नृपों के अभिलेख जो कीलाक्षरी लिपि में अंकित हैं—में विद्यमान है। इनमें सर्वाधिक चर्चित है वह सील जिस पर हित्ती सम्राट सुप्पीलील्यूमा (1344-1322 ई.पू.) और कुरु-मित्तानी शासक मत्तिवज्जा (मतिवज्र) के मध्य (1350 ई.पू.) मित्र, वरुण, नासत्यों (अश्विनी कुमारों) और इन्द्र को साक्षी मानकर सन्धि हुई थी। इसका पाठ इस प्रकार है—

इलानि—मि-इत-र अ श शि इ ल-अर-ब-न-अ-शि-एल अ-रु-न-अशि-शि-इल।

इलु—इन-दर-इलानि-न-श-आ,-ति इअ-अन -न।।

इसका पूरा पाठ—इस प्रकार होगा—

इलानि मित्र अश्शिइल। इलानि अश्शिल्ल। इलुइनदर। इलानि नासत्तियन।

इसी प्रकार कुरु मित्तानी शासकों का अश्वपाल 'किक्कुली' अनेक सीलों पर अंकित, अश्व शिक्षा से सम्बन्धित अपनी पुस्तक में, अश्वों के वर्तन (घुमाना) और उनके रंगों की जिस भाषा में व्यक्त करता है—वह शुद्ध संस्कृत है। इसी तथ्य को आधार मानकर कुरुमित्तानियों[24] द्वारा प्रयोग में लाई जाने वाली भाषा को शुद्ध संस्कृत-भाषी माना गया है।

परन्तु भाषाजन्य विकृति 3000 ई.पू. के हूरियन (कुरुजन), हित्तियों (जिनको मिश्र के अभिलेखों में खेता, खाता और असीरियन अभिलेखों में खत्ता अथवा खाते कहा गया है। हिब्रू में इन्हें खेत अथवा खित्ती कहा गया है) अक्काड नृपों-सुमेरियनों, बैबीलोनियनों सीरिया के विभिन्न क्षेत्रों से प्राप्त अभिलेखों तथा पैलेस्ताइन[25], इजराइल तथा तेल-अमराना से प्राप्त पकी मिट्टी की सीलों पर विद्यमान है।[19] यही संस्कृत का प्राकृत रूप ईरान के सखमिनीषी शासकों के कीलाक्षरी में अंकित अभिलेखों में भी देखने को मिलता है। यह स्पष्ट रूप से संकेत है कि ईरान के भूभागों से लेकर समस्त पश्चिमी मध्य एशिया संस्कृतभाषी वैदिक उद्भव के जनों की क्रीड़ा भूमि 3000 ई. पू. से लेकर इस्लाम के उदय तक रही है तथा वैदिक संस्कृति से प्रभावित थी।[26]

भारतीय अनु-उद्भव के वैदिक काश्यजन (Kassites)[27] अपने तीव्रगामी रथों पर आरूढ़ होकर पूर्व से पश्चिमी एशिया में प्रवेश कर 1700 ई.पू. में पैलेस्ताइन से लेकर मिस्र तक व्याप्त हो गए। यह तथ्य उनके द्वारा कूनीफार्म (Cunniform) कीलाक्षरी में अंकित अनेक सीलों के उत्खनन से प्राप्त होने तथा उनके अध्ययन से स्पष्ट हुआ है। 14-1500 ई.पू. की प्राप्त पकी मृदा की सीलों पर अधिकांशतः अंकित शासकों के तथा देवों के नाम वैदिक हैं[24] शिव लिंग की उयासन पैलेस्ताइन क्षेत्र में व्याप्त थी तथा शिव की पूजा का स्थल जरीखो (Jericho) में प्राप्त हुआ है।[24] काश्यजनों की सीलें जो मित्तिनियों (मित्राणि जन) की सीलों की पूर्ववर्ती हैं, मेसोपोतामिया, अनातोलिया, सीरिया तथा बहुतायत में पैलेस्ताइन में पाई गई हैं जो 1600 से 1250 ई.पू. की हैं।''[24]

पी.ई. ड्यूमोन्त[28] के अनुसार इन सीलों पर अंकित नृपों के नाम—इन्द्रदत्त (अमराना-टेबलेट) आदि वैदिक हैं तथा इनके देवों में इन्द्र, मरुत, वरुण आदि को इन्द्रश, वरुणश, सूर्यश लिखा गया है। इस पर टिप्पणी करते हुए डॉ. सम्पूर्णानन्द ने लिखा है—''इन नामों के अन्त में जो शकार है वह प्रथमा विभक्ति का प्रत्यय है। पाणिनि के व्याकरण के अनुसार इसका मूलरूप सु है। कई परिवर्तनों के बाद यह असू या विसर्ग के रूप में दीख पड़ता है। इन काश्य देवों के नाम के संस्कृत रूप होंगे इन्द्रस (इन्द्र) और मरुतस (मरुत) वस्तुतः संस्कृत में मरुत नाम का देवों का एक गण है। एक वचन में इस शब्द का रूप मरुत होगा।''[29]

इन वैदिक देवों, इन्द्र, मरुत, सूर्य, भग आदि की पैलेस्ताइन में उपासना होती थी। यहाँ से उत्खनित कुछ मित्तिनी तथा हूरियनजनों के नृपों के नाम की सीलें प्राप्त हुई हैं। इनमें हूरियन भाषा का प्रयोग किया गया है तथा इसी भाषा में मित्तानी नृप तुशरथ (दशरथ) का एक पत्र मिस्र के अमराना काल के फराओं (सम्राट) आमेन होतेप-III को सम्बोधित है। 1915 में पुनः नृप तुशरथ (दशरथ) की चर्चा बोगेजकोय से प्राप्त सीलों पर हुई है। हूरियन (कुरुजन) तथा मित्तिनियों (मित्राणिजन) अनु एवं द्रुह्युजनों से मिश्रित थे, ने पश्चिमी एशिया में अनुमानतः एक हजार वर्ष एक (2300 ई.पू.-1200 ई.पू.) तक शासन कर उस क्षेत्र में अपनी अमिट वैदिक छाप छोड़ दी। इसी प्रकार अनु शाखा के संस्कृतभाषी, ईरान से चलकर बैबीलोन क्षेत्र में व्याप्त काश्य-साम्राज्य अनुमानतः ई.पू. 1746-1180 तक चलता रहा।

हूरियन जनों की प्राप्त टेबलेटों पर उन्हें हू-उर-री (Hu-ur-ri) हारी (Hari) खूराइत (कूरइत) Khurrites (कुरु-इति) होर्री (Hourri), चूरी (Churri), हूरी (Hurri) अथवा हूरीता (Hurriter) नाम से सम्बोधित किया गया है।[30] यह जन यूरोपीय भाषाविदों के अनुसार कांस्ययुगीन थे तथा हूरो-उरारतियन (Hurro-Urartion) भाषा बोलते थे। यह भाषा भारोपीय समुदाय की प्राकृत-संस्कृत थी। इनकी अनातोलिया और उत्तरी मेसोपोटामिया से प्राप्त हुई पकी मिट्टी की सीलें 2000 ई.पू. की हैं जो कीलाक्षरी लिपि में हैं। आधुनिक आरमेनियन जन इनके तथा उरारतियन जन के वंशज हैं।[30] यह हूरियन (कुरुजन) तथा हातीजन भाषा की दृष्टि से उत्तरी काकेशश में प्रयोग हुई भाषा भाषी थे। सम्भव है कि यह कुरु एवं पुरुजन महाभारत युद्ध के उपरान्त भारत से विसंक्रमित हुए हों और मध्य एशिया में अवशेष रहे—द्रुह्यु जनों के साथ मिश्रित हुए हों, क्योंकि इनकी सीलों पर अनेक नाम भारतीय-वैदिक हैं तथा यही तथ्य इनके संगीतकारों के नामों से भी परिलक्षित होता है।

उगारित (Ugarit) से उत्खनित 1400 ई.पू. सीलों पर हूरियन महिला संगीतकारों के नाम अंकित हैं, जिनमें तपस्वनी (Tapsihuni) पूहिय (Puhiya) (प्रियहिय) उर-हिय (Urhiya) (कुरुहिय) तथा अमिय (Amiya) के नामों का उल्लेख है। यह सभी संस्कृत से उद्भूत नाम, इन हूरियन (कुरुजन) के वैदिक भारतीय उद्भव के द्योतक हैं। निम्न स्थानों के उत्खनन से हूरियन जनों से सम्बन्धित प्रमुखतः कीलाक्षरी लिपि में सीलों, प्राप्त हुई हैं—

तेल मोजान (प्राचीन उरकेश), योरगान-तेपे (प्राचीन नूजी), तेल बराक (प्राचीन नागर), तेल लैलान (प्राचीन सेहाना), तेल बारी (प्राचीन कहात), तेल-बेदार (प्राचीन नावादा), उम-सल-मारा (प्राचीन तूबा), हम्मान-अल-तुर्कमान (प्राचीन जालपा), चागार-बाजार, तेल-ऐल-फरवरिया (वसुखानि), तेल-हमीदिया (प्राचीन तायदू), जो इनके अनातोलिया से उत्तरी मेसोपोतामिया-बैबीलोन तक विस्तार के द्योतक हैं।

आधुनिक तुर्की-प्राचीन अनातोलिया में 2400 ई.पू. के समीप हातीजनों ने जो भारोपीय भाषाभाषी समुदाय-भारतीय उद्भव के द्रुह्युजनों के वंशों थे, ने आकर सरिता किजिल इरमाक (Kizil Irmak) क्षेत्र का विकास कर 2500 ई.पू. में हत्तूसा की पहाड़ी पर अपनी राजधानी को स्थापित किया था।

यह वैदिकजनों की भाँति ही प्रकृति की शक्तियों के उपासक थे तथा इन्हीं की शाखा के हित्तीजन थे, जिन्होंने हित्ती साम्राज्य को सुदूर मिस्र, सीरिया, पैलेस्ताइन, साइप्रस, इजराइल तथा मेसोपोटामिया तक विस्तृत कर पश्चिमी मध्य एशिया के इतिहास पर अपनी अमिट छाप छोड़ी।

हाती-हित्ती सामराज्य अनुमानतः 2200 ई.पू. से लेकर 1178 ई.पू. तक चर्चित रहा और कालान्तर में सीरिया आदि क्षेत्रों में हित्तीवंश के शासकों की उपस्थिति उनके प्राप्त अभिलेखों के माध्यम से ज्ञात होती है।[31] इन शासकों के विषय में बोगाजकोय-हत्तूसा से प्राप्त 3500 पकी मिट्टी की सीलें जो कीलाक्षरी लिपि में हैं, महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ प्रदान करती हैं।

इस वंश का प्रथम ज्ञात शासक पम्ब अथवा पद्य (2200 ई.पू.) था। उसके उपरान्त पाठिन और पियुष्ती तथा अनित अथवा अनित्य का नाम आता है। यह सभी नाम संस्कृत से उद्भूत हैं। हाती-हित्ती जनों के एक नृप का नाम कुरुनत (1228-1229 ई.पू.) मिलता है जो इनके वैदिक-भारतीय कुरुजनों से सम्बन्धित होने का संकेत देता है।

हित्ती साम्राज्य के शक्तिहीन होने के उपरान्त भी कारचेमिश के नृप सागर के प्रथम अभिलेख में पालक, शालक, तेराका (तारक) आरबेसस (आर्यवेशश), दिओसेस (देवेश) आदि भारतीय नरेशों के नाम उल्लिखित हैं।[32]

हमाथ से प्राप्त केनताला नामक शासक के अभिलेख में एक शासक का नाम दाहक है जो वैदिक शब्द दस्यु से उद्भूत है तथा दूसरा चर्चित नाम वत्स नामक शासक का है।[32]

स्वतः अनातोलिया में स्थल पुरुषांडा-पुरु-खंड वैदिक पुरजनों का खंड-भाग होने का संकेत देता है, तो हयासा और अश्वा नामक स्थल अश्वों से सम्बद्ध हैं। इसी प्रकार अनातोलिया के सेहा सरिता क्षेत्र के दो शासकों का नाम मनुदत्त (Mapadut) तथा उरदत्त (कुरुदत्त) ज्ञात हैं।

अनातोलिया के किजुवादना (Kizzuwadna) किजुवातना (Kizzuwatana) क्षेत्र में शुनः शूरः तथा इस वंश का संस्थापक हित्ती कीलाक्षरी में पा-री-वा-र-ती अंकित है तथ्यतः विख्यात पुराणवर्णित नृप प्रियव्रत है। इसी वंश के एक शासक lsu-putah-su, ईशु-पुताह-सु-ईशपुवेशु (ईशपुत्र) की एक सील अनातोलिया-ताउरस क्षेत्र के गोयली-कूले (Goyli-kule) से प्राप्त हुई है, जिससे ज्ञात होता है, कि किजुवातना के शासक तथा मित्तानी जन-शवों का दाह-संस्कार करते थे। इन शासकों

का समय 1500 ई.पू. के आस-पास था। आधुनिक साइप्रस जो पुराकाल में अलासिया (Alasia) कहा जाता था, के शासक ईश्वर (कीलाक्षरी लिपि में E-su-wa-ra) की एक सील जो उसने उगरिब (Ugrit) के शासक के अभिलेखागार से प्राप्त हुई थी, उससे 1300 ई.पू. के समुद्रीजनों के आमक्रण के विषय में ज्ञात होता है।

हित्ती सम्राट तुघालिय-प्रथम (1236-1209 ई.पू.) की पत्नी का नाम निकालमति (Nikalmati) था। सम्भवतः यह मित्तिनी वंश की थी। उत्खनित सीलें जो हित्ती साम्राज्य के विभिन्न क्षेत्रों तथा सुमेरिया से प्राप्त हुई है, उन पर हित्ती देवों के चित्र उकेरे गए हैं। हातीजनों के प्रभाव के कारण सूर्य की उषा को अरीना कहा गया है जो उच्चारण दोष के कारण अरुणिमा होना चाहिए। इसी प्रकार एक अन्य स्थल पर सूर्य को इस्तान (lstan) कहा गया है जो इनान (Inan) सूर्य है। यह शब्द ऋग्वैदिक देव मंडल के चर्चित देव पूषन भी हो सकते हैं। पूषन की सूर्य कहा गया था और सायण के अनुसार उषा उनकी भगिनी है। इस्तान-विवस्वान सूर्य शब्द का संक्षिप्त रूप भी हो सकता है।[32]

जल के देवता वरुण को हित्तीजन तारु (Taru) क्या युद्ध के देवता को बुरुनकाते (Wurunkate) कहते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि तारू-मारू-मरुत का परिवर्तित रूप है जो वरुण से सम्बद्ध हो गया और स्वत वरुण-काते-महतू वरुण का द्योतक है। हित्ती भाषा में काते शब्द महान को व्यक्त करता है। वैदिक वाङ्मय में वरुण महत्-असुर कहे गए हैं जो युद्ध में शत्रु को अपने पाश में फँसा लेते हैं। इसी कारण हित्ती देव परिवार में वरुण-युद्ध के देवता हो गए।[32]

वैदिक देव इन्द्र हित्ती सीलों पर विद्यमान हैं जिनकी चर्चा विस्तार से वैडेल ने अपने ग्रन्थ में की है।[23] एक हित्ती सील पर इन्द्र जीवनदायी जल को एक पात्र से गिराते हुए दिखाए गए हैं। यह सर्वविदित है कि इन्द्र ने हिमीभूत जल को प्रवाहमान किया था (ऋग्वेद : 1/57/2, 1/57/6)[32]

एक अन्य हित्ती सील पर इन्द्र चतुष्कोण वज्र धारण किए, वैदिक परिधान (धोती) धारण किए, लम्बी दाढ़ी, क्लीन-शेब्ड, लम्बी टोपी जो दो सर्पोयुक्त है, यज्ञ की अग्नि को नष्ट करते हुए असुर का वध करते दिखाए गए हैं।

इसी प्रकार मृत्यु शय्या पर पड़े अमरु (अमोंराइत-मरुत के उपासकजन) को मृत्यु के दानव से युक्त करते हुए इन्द्र-प्रदर्शित हैं।[32]

हित्तीजन शिव-लिंग जिसे कीलाक्षरी अभिलेखों में हुवासी (Huwasi) कहा गया है—की उपासना करते थे। इतना ही नहीं ग्रामीण हित्तीजन अपने अस्त्रों की वैदिक जनों की भाँति पूजा करते थे। (ऋग्वेद मंडल 6 के 57 सूक्त में धनुष, बाण तथा तूणीर एवं अथर्ववेद के 5/20 सूक्त में दुन्दुभी की पूजा को समर्पित है।)

हित्तीजन वैदिकजनों की ही भाँति अपना एवं आराध्य मूर्तियों का शुद्धीकरण जल से करते थे।[32] हित्ती देव परिवार की संक्षिप्त चर्चा के उपरान्त पश्चिमी मध्य

एशिया से, प्राप्त सीलों[33] पर कीलाक्षरी लिपि में अंकित एक सौ से अधिक भारतीय नृपों के नामों में से कुछ निम्नवत हैं[34]–

1. चाक्षुस (Chaxus)
2. इक्षुवाक (Ikshuwaku)
3. मनु (Manu)
4. सुर-सेन (Shur-Sin)
5. सागर-सगर (Shargar)
6. पुरुष सेन (Purish Sin)
7. शंड (Sanduri)
8. भगदत्त (Begdatit)
9. सुरेश (Sutresh)
10. अर्यगीश (Aurparnis)
11. भगवर्ण (Bagbarna)
12. अश्ववर्ण (Ashabarna)
13. श्रीदास (Sri-das-sh)
14. श्रील (Serila)
15. अत्यार्ति (Arita)
16. इनानमति (Innanmati)
17. आदित्य (Addattoi)
18. आर्य (Arria)
19. पुण्य (Punnia)
20. तुग्र श्रेणी (Tur-Senni)
21. पुरुष (Parush)
22. केशी (Kessia)
23. प्रत्युष (Partasu)
24. मधुवत्त (Madhuwatta) या मधुवत

इन नामों के अतिरिक्त, वत्स, अम्बरीष, पक्ष तथा इन्द्र के अनुयायियों के कुल-इन्द्र का ज्ञान, रास, हमाथ आदि स्थानों से प्राप्त व हित्ती अभिलेखों से ज्ञात होता है।

इसी भाँति हित्ती शासक लाबरना-प्रथम, लाबरना-द्वितीय संस्कृत शब्द लोहित वर्ण का संक्षिप्त रूप, कीलाक्षरी लिपि में हो सकते हैं।[32]

कीलाक्षरी लिपि में मित्तिन्नि (मित्राणि) जनों को कुरु-मि-इत-तिन्न अथवा मि-त-न-अ-ा लिखा गया है। असीरियन स्रोतों में यह हनिगल्वत अथवा खनिगल्बत कहे गए हैं। इनका राज्य मेसोपोतामिया में 1500 ई.पू. में दक्षिण पूर्वी तुर्की-अनातोलिया,

उत्तरी सीरिया तथा उत्तरी इराक जो आज का कुर्दिस्तान है, समाहित था। इनकी राजधानी वश्शुकन्नि (वसुखनि-धन का स्रोत) थी, जो आधुनिक सीरिया का अल-हसकस है। यह असीरियन काल में खबुरनदी और इयूफ्रेतस नदी के बीच का भाग-एक भौगोलिक नाम बन चुका था।[23] यह जन वेद की मैत्रायणी शाखा के प्रतिनिधि माने गए हैं।[26] इनकी वंशावलि में वैदिक उद्भव तथा रामायण आधारित नृपों के नाम निम्नवत हैं—इस वंश का प्रथम शासक कीर्ति (1500-1490 ई.पू.) इसका पुत्र था—

2. शत्रुघ्न (Shuttanrana) (1490-1470 ई.पू.)
3. भरत (Barattana) (1470-1450)
4. परशात्तर (Parshtatar) (1450-1440 ई.पू.) यह परशोत्तम या पुरुषोत्तम हो सकता है।
5. शाउस्तातर (Shushtatar) (1440-1410 ई.पू.)
6. आर्तात्मा-ऋतात्मा (Rtatma or Artatama) (1410-1400 ई.पू.)
7. शुत्तारना (Shuttarna-II) शत्रुघ्न (1400-1385 ई.पू.)
8. आर्तशुमरा-ऋतस्मर (1385-1380 ई.पू.)
9. दशरथ (Tushratta) (1380-1350 ई.पू.)
10. शत्रुघ्न-III (Shuttarana) (1350 ई.पू.)
11. मत्तिवज्र अथवा शक्तिवज्र (Shattivaza or Mattivaza) (1350-1320 ई.पू.)
12. शत्रुधारा (Shattuara-I) (1320-1300 ई.पू.)
13. वशिष्ठ (Washashtta) (1300-1280 ई.पू.)
14. शत्रुआरा (Shattuara-II) (1280-1270 ई.पू.)

इन नामों में सम्भवतः अत्रुआरा वास्तव में सुआर्त-सुऋत हो सकता है। इसी भाँति नूजी (Yurghan tepe) से प्राप्त सीलों पर नृप शत्रुघ्न (Shuttarana-या Shaushatar) द्वारा उत्कीर्ण कराए गए अनेक पूरा विवरण तथा वैदिक देवों के चित्र अंकित हैं, जिनके साथ इस शासक द्वारा नियुक्त की गई तीन महिला दंडाधिकारियों (Magistrates) का उल्लेख इस भाँति किया गया है—अमीनिया (Aminiya), ऊगी (Ugi) एवं सत्यवती (Sattawati) । इन नामों में प्रथम दो नाम सेमेटिक हैं परन्तु सत्यवती भारतीय महिला है।[30]

हित्ती नृप सुप्पीलील्यूमा और मित्तिन्नी नरेश मत्तिवज्ज या मतिव्रज के मध्य जो सन्धि हुई थी, उस सील पर साक्षी के रूप में मित्र, वरुण, इन्द्र तथा नासत्यों का उल्लेख इस प्रकार किया गया है—

इलानि मित्र अश्शिइल। इलानि अश्शिएल। इलु इन्दर। इलानि नासत्तियन।

यही क्रम ऋग्वेद के निम्न मन्त्र में विद्यमान है—

अहं मित्रवरुणोभा विभर्म्यन्द्राग्नी अहमश्विनोभा।। ऋ. 10/125/11

स्पष्ट है सन्धिपत्र का उक्त मन्त्र ऋग्वेद के मन्त्र का कीलाक्षरी रूपान्तरण है। रोचक तथ्य हे कि ऋग्वेद का उपर्युक्त मन्त्र स्पष्ट करता है कि हित्तीजन भी मन्त्रोक्त देवों से परिचित थे तथा उपासक भी थे।[33]

मित्तिन्नी सम्राट का मिस्र के सम्राट (फराओ) से मधुर सम्बन्ध था क्योंकि तुशरत (दशरथ) की बहन गिलुहेप-गिलखिप (गुरुकृपा-या कुरू कृपा) का विवाह मिस्र के फराओ आमेनहातेप द्वितीय से हुआ था तथा तुश्रत्त (दशरथ) की पुत्री तदुहिप या ततुखिप (तत्कृपा) का विवाह भी कालान्तर में इसी नृप से हुआ। इस प्रकार मिस्री फराओ आमेनहातेप द्वितीय तुशरत्त (दशरथ) का बहनोई और जामाता भी था।[33] यह विवरण तथा निम्न तथ्य जो इन अमराना से प्राप्त सीलों पर अंकित है, में मित्तिन्नी सम्राट तुश्रत्त-दशरथ कहता है कि ''उसने अपने भाई पर रामन की कृपा से विजय प्राप्त की। यह शब्द रामन-जो राम का कीलाक्षरी मित्तिन्नी रूप है, सेमेटिक शब्द रहमान का जनक है, तथा श्रीराम के ई.पू. 1400 में देवत्व प्राप्ति का सूचक भी।

इस प्रकार राम का देवत्व प्राप्ति तथा मित्तिन्नियों के 1400 ई.पू. में वाल्मीकि रामायण के घटनाक्रमों से परिचित होने का यह एक ज्वलन्त साक्ष्य है।

राम का नाम पश्चिमी मध्य एशिया से लेकर मिस्र तक व्याप्त था। फलस्वरूप राम के नाम से मिस्र के निम्न फराओ (सम्राट) का नाम सम्बद्ध हैं—[10]

1. परमेश रामेशेसस-I
2. रामेशेसू-II (1279-1213 ई.पू.)
3. रामेशेसू-III (1184-1153 ई.पू.)
4. रामेशेसू-IV (1153-1147 ई.पू.)
5. रामेशेसू-V (1147-1143 ई.पू.)
6. रामेशेसू-IV (1143-1136 ई.पू.)
7. रामेशेसू-VII (1136-1129 ई.पू.)
8. रामेशेसू-VIII (1129-1126 ई.पू.)
9. रामेशेसू-IX (1126-1108 ई.पू.)
10. रामेशेसू-X (1108-1099 ई.पू.)
11. रामेशेसू-XI (1099-1099 ई.पू.)

आधुनिक कुर्दिस्तान के निवासी कुर्द जन भी कुरुवंश से सम्बद्ध हैं।[23] इनके राष्ट्रीय ध्वज के मध्य में सूर्य अंकित है।

अपने पूर्वज मित्तिन्नियों द्वारा योद्धाओं के लिए प्रयोग किए जाने वाले शब्द 'मर्यन्ती' जो संस्कृत के शब्द मर्य (मृत्यु) से बना है, की भाँति ही आधुनिक कुर्दिश भाषा का 'पेश-मर्गा (मृत्यु मर्ग-पेश-सम्मुख) मृत्यु के सम्मुख, शब्द है जो इनके मित्तिन्नी वंशज होने का साक्ष्य है। राम को आराध्य मानने वाले करु-मित्तिन्नियों के वंशज कुर्दजनों के क्षेत्र दरबन्द-ई-बेलूला पर्वत शृंखला जो होरेन-शेखान क्षेत्र में वर्तमान

है—की एक चट्टान पर अंकित चित्र में एक वीर पीठ पर तरकश जो तीरों से भरा है हाथ में धनुष धारण किए उत्कीर्ण है। इस वीर पुरुष के पास घुटनों के बल बैठा एक कपि (बानर) चित्रित है। स्पष्टतः यह चित्र धर्नुधारी श्रीराम का है जिनके पैरों के पास बैठे हुए हनुमान बैठे हुए हैं।[35] यह शिला चित्र पश्चिमी मध्य एशिया में श्रीराम के देवत्व एवं महिला से परिचित होने का द्योतक है जो 10 जनवरी, 5114 ई.पू. में अयोध्या की पावन भूमि पर उत्पन्न हुए थे।[36]

सन्दर्भ—

1. महाभारत : गीता प्रेस, गोरखपुर संवत 2016, चतुरशीति तमोऽध्याय, पृ. 266 तथा फ्राले डेविड : द ऋग्वेद एंड द हिस्ट्री ऑफ इंडिया, आदित्य प्रकाशन, 2/18 अंसारी रोड, नई दिल्ली-2, 2012, पृ. 120-122।
2. भागर्व, मनोहर लाल : द जियोग्राफी ऑफ ऋग्वैदिक इंडिया, द अपर इंडिया पब्लिशिंग हाउस लि., लखनऊ, 1964, अध्याय-6:81।
3. ऋग्वेद : 2/3/7, देखें ऋग्वैदिक 'तिस्त्रो देव्यः' की सरस्वती एवं भारती की मूर्ति रूप हैं, हित्तो फोनीशियन देवी—बराती-बितानिया, इतिहास दर्पण, 21 (1), 33-43, 2016।
4. श्रीमद्भागवत पुराण : गीता प्रेस, गोखरपुर, संवत, 2008, 9, 23, 15-16।
5. पार्जीटर, एफ. ई. : ऐन्शियंट इंडियन हिस्टोरिकल ट्रेडीशन, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, वाराणसी, पटना, 1962, पृ. 298-99।
6. भागर्व, पुरुषोत्तम लाल : इंडिया इन द वैदिक ऐज, ए हिस्ट्री ऑफ इक्सपैन्शन इन इंडिया, अपर इंडिया पब्लिशिंग हाउस प्रा.लि. लखनऊ, अध्याय 6:3, 7:55।
7. मजूमदार, आर.सी. : द हिस्ट्री एंड कल्चर ऑफ इंडियन पीपलु, भाग-1, द वैदिक ऐज, भारतीय विद्या भवन पब्लि.मुम्बई-छठा संस्करण, पृ. 283, 262।
8. तलगिरी, श्रीकान्त, जी. : द ऋग्वेद-ए हिस्टोरिकल एनालिसिस, आदित्य प्रकाशन, F 14168, माडले टाउन.II, दिल्ली-9, पृ. 78, 202, 141-148 तथा
    1. उपाध्याय, राजीव रंजन, ग्रीस और पश्चिमोत्तर भारतवर्ष के स्थान-वाची नामों की उभयनिष्ठता एवं भारतीयों का उन क्षेत्रों के विकास में अवदान, इतिहास दर्पण, 19 (1), 38-54, 2014।
    2. प्राचीन ग्रीस के एटिका-एथेन्स के कुरु एवं भरतजन तथा उमासून अमेंजस, इतिहास दर्पण 19 (2), 199-208, 2014।
    3. ऋग्वैदिक सरमा एवं पणि आख्यान का ग्रीक पुरा कथाओं में रूपान्तरण, इतिहास दर्पण, 20 (1), 11-16, 2015।
9. उपाध्याय, राजीव रंजन : इटली की प्राचीन उत्रुस्कन सभ्यता में निहित वैदिक तथ्य एवं शवाधानों की भित्तियधें एवं पात्रों पर उत्कीर्ण रामायण-चित्र, इतिहास दर्पण : 18 (2), 77-89, 2013।

10. उपाध्याय, राजीव रंजन : कुशद्वीप और मिस्र का वैदिक अतीत, इतिहास दर्पण : 18 (1), 267-286, 2013।
11. तलागेरी, श्रीकान्त, जी : द ऋग्वेद-ए हिस्टोरिकल एनालेसिस, आदित्य प्रकाशन, F14/16, माडेल टाउन.-II, दिल्ली-9, पृ. 78, 202, 141-148, 2004।
12. वर्मा, टी. पी. : वैदिक जनों का यूरोप एवं पश्चिमी एशिया में विसंक्रमण, इतिहास दर्पण, 14 (2), 25-42 एवं हिस्ट्री एण्ड सिवीलाइजेशन ऑफ जम्बू द्वीप (शीघ्र प्रकाश्य)।
13. उपाध्याय, राजीव रंजन : ऋग्वैदिक ग्रह-नक्षत्रों से सम्बद्ध कुछ तथ्य एवं मिथक, इतिहास दर्पण, 17 (1), 5-9, 2012।
14. त्रिपाठी, डी.एन. : इंडियन एंड वेस्ट एशियन कल्चरल कानटैक्ट्स, इतिहास दर्पण, 18 (2), 267-289, 2013।
15. ऐतरेय ब्राह्मण: 8/23।
16. पं. शर्मा, रघुनन्दन : वैदिक सम्पत्ति, विजय कुमार गोविन्द कुमार हासानन्द, 4408 नई सड़क, नई दिल्ली-6, पृ. 349, 396-7, 2003 ई.।
17. पं. भगवद्दत्त : भारतवर्ष का वृहद इतिहास, प्रणव प्रकाशन, 1/28 ईस्ट पंजाबी बाग, नई दिल्ली-26, पृ. 94, 2000 ई. पृ. 229।
18. कैम्पवेल, जॉन : द हित्तीज : देयर इंस्किपशनस एंड देयर हिस्ट्री विलियम सन्स एंड कम्पनी, टोरेंटो, 1890।
19. वर्मा, ठाकुर प्रसाद : ईरान के सखमनीषिय नरेशों का इतिहास एवं महर्षि जरथ्रोस्त्र, बी.आर. पब्लिशिंग कारपोरेशन नई दिल्ली-52, 2018।
20. महाभारत : गीता प्रेस, गोरखपुर, संवत 2016, द्रोण पर्व, द्विनवतितमोऽध्याय, श्लोक 17, 70 तथा अन्य अध्याय।
21. ऋग्वेद : 2/3/8।
22. सिंह, भगवान : दे वैदिक हडड्पनस, आदित्य प्रकाशन 14/65 माडल टाउन-2, दिल्ली-9, 1995।
23. वैडेल, एल.ए. : द मेकर्स ऑफ सिवीलाइजेशन इन रेस एंड हिस्ट्री लुजाक एंड कं., लन्दन।
24. वर्मा, ठाकुर प्रसाद : विश्व इतिहास में कुरुवंश, इतिहास दर्पण, 17 (1), 10-23, 2012।
25. अलब्राइट, डब्ल्यू, जी : आरकिआलोजी ऑफ पैलेस्ताइन, 1949।
26. अग्रवाल, गुंजन : प्रागैस्लामिक अरब में हिन्दू संस्कृति इतिहास दर्पण, 15 (2), 42-68, 2010।
27. नाग, कालीदास : इंडिया एंड मिडिल ईस्ट कलकत्ता, एम.सी. सरकार एंड सन्स, 1954।

28. इयूमोन्त, पी.ई. : इंडो-आर्यन, नेमस फ्राम मित्तानी नूजी एंड सीरियन डाकूमेंट्स, जोओबीयस (Jobs), V.C. 37-6।
29. सम्पूर्णानन्द : हिन्दू देव परिवार का विकास, मित्र प्रकाशन प्रा. लि. इलाहाबाद, पृ. 10, 1964।
30. हूरियन : विकीपीडिया।
31. मैलोरी जे.पी. ऐडम, डी.ओ. सम्पादक : आरमेनियनस-एनसाइक्लोपीडिया ऑफ इंडो यूरोपियन कल्चर, 1997 डी.ओ. सम्पादक।
32. उपाध्याय, राजीव रंजन : वैदिक हित्ती नरेश, उनका साम्राज्य एवं कुछ अभिलेख, शीघ्र प्रकाश्य पुस्तक।
33. वर्मा, टी.पी. : क्राम बोगजकोय टू हड़प्पा, इतिहास दर्पण, 13 (1), 27-37, 2008।
34. जमना दास अख्तर : इंडो आर्यन नेमस ऑफ वेस्टर्न एशिया एंड देयर डाकूमेंट्स, पुरातत्त्व, नम्बर 10, 1978-79।
35. टाइम्स ऑफ इंडिया : लखनऊ संस्करण, 26 जून, 2019।
36. सरोजबाला : इंडिया : साइंटिफिक डेटिंग ऑफ एन्शियंट ईवेंट्स, फ्राम 7000 बी. सी. 2000 बी.सी. – कवरिंग ऋग्वैदिक एंड रामायण इराज, डायलाग, जुलाई-सितम्बर 2013, पृ. 110-124।